॥ श्री सुधर्मास्वामी नमः ॥

अहो ! श्रुतम् - स्वाध्याय संग्रह [५]

ज्ञानसार-अष्टक

[गाथा और अर्थ]

-: कर्ता :-

महोपाध्यायश्री यशोविजयजी गणिवर

अनुवादकार : पू. पद्मविजयजी

-: संकलन :-

श्रुतोपासक

-: प्रकाशक :-

श्री आशापूरण पार्श्वनाथ जैन ज्ञानभंडार

शा. वीमळाबेन सरेमल जवेरचंदजी बेडावाळा भवन

हीराजैन सोसायटी, साबरमती, अहमदाबाद-३८०००५

फोन : २२१३२५४३, ९४२६५८५९०४

E-mail : ahoshrut.bs@gmail.com

प्रकाशक : श्री आशापूरण पार्श्वनाथ जैन ज्ञानभंडार
प्रकाशन : संवत २०७४
आवृत्ति : प्रथम

ज्ञाननिधि में से
पू. संयमी भगवंतो और ज्ञानभंडार को भेट...
गृहस्थ किसी भी संघ के ज्ञान खाते में
३० रुपये अर्पण करके मालिकी कर शकते हैं ।

प्राप्तिस्थान :

(१) सरेमल जवेरचंद फाईनफेब (प्रा.) ली.
672/11, बोम्बे मार्केट, रेलवेपुरा, अहमदाबाद–380002
फोन : 22132543 (मो.) 9426585904

(२) कुलीन के. शाह
आदिनाथ मेडीसीन
Tu-02, शंखेश्वर कोम्पलेक्ष, कैलाशनगर, सुरत
(मो.) 9574696000

(३) शा. रमेशकुमार एच. जैन
A-901, गुंदेचा गार्डन,
लालबाग, मुंबई–12.
(मो.) 9820016941

(४) श्री विनीत जैन
जगद्गुरु हीरसूरीश्वरजी जैन ज्ञानभंडार,
चंदनबाला भवन, 129, शाहुकर पेठ पासे, मीन्ट स्ट्रीट, चेन्नाई–1.
(मो.) 9381096009, 044-23463107

(५) शा. हसमुखलाल शान्तीलाल राठोड
7/8, वीरभारत सोसायटी, टीम्बर मार्केट, भवानीपेठ, पूना.
(मो.) 9422315985

मुद्रक : **किरीट ग्राफिक्स**, अहमदाबाद (मो.) ९८९८४९००९१

ज्ञानसार-अष्टक

पूर्णताष्टकम्-1

ऐन्द्रश्रीसुखमग्नेन, लीलालग्नमिवाखिलम् ।
सच्चिदानन्दपूर्णेन पूर्णं जगदवेक्ष्यते ॥ १ ॥

भावार्थ : जिस प्रकार लक्ष्मी सुख में मग्न बना इन्द्र समस्त जगत को सुख में मग्न बना देखता है । उसी प्रकार सम्यक् ज्ञान, दर्शन और चारित्र से पूर्ण ऐसा सच्चिदानन्द योगी जगत को दर्शन, ज्ञान चरित्र से पूर्ण देखता है ॥१॥

पूर्णता या परोपाधेः, सा याचितक-मण्डनम्, ।
या तु स्वाभाविकी सैव जात्यरत्नविभानिभा ॥ २ ॥

भावार्थ : पर-वस्तुओं से बनी जो पूर्णता है वह मांग कर लाये गये आभूषणों की तरह अनित्य है । जो स्वभाव जन्य पूर्णता है, वह उत्तम रत्नों की दिव्य कांति जैसी है ॥२॥

अवास्तवी विकल्पैः स्यात्, पूर्णताब्धेरिवोर्मिभिः ।
पूर्णानन्दस्तु भगवान् स्तिमितोदधिसन्निभः ॥ ३ ॥

भावार्थ : समुद्री तरंगों से जो ज्वार रूप पूर्णता होती है, वह अवास्तविकी अर्थात् झूठी है । उसी प्रकार आत्मा में भी विकल्पजन्य जो पूर्णता का आभास होता है, वह अस्थिर

है । शुद्ध स्वभावयुक्त पूर्णानंदमय भगवान् अर्थात् शुद्ध आत्मा तो स्थिर समुद्र के समान शान्त होता है ॥३॥

जागर्ति ज्ञानदृष्टिश्चेत्, तृष्णाकृष्णाहिजाङ्गुली ।
पूर्णानन्दस्य तत् किं स्याद् दैन्य-वृश्चिक-वेदना ? ॥४॥

भावार्थ : तृष्णा रूप काले नाग के जहर का नाश करने वाले गारुड़ी मंत्र के समान तत्त्वज्ञान रूपी दृष्टि जिसकी जागृत है, उस पूर्णता के आनंद का उपभोग करने वाले ज्ञानी को दीनता रूप बिच्छु के डंक की वेदना क्यों हो सकती है ? ॥४॥

पूर्यन्ते येन कृपणा, - स्तदुपेक्षैव पूर्णता ।
पूर्णानन्दसुधास्निग्धा दृष्टिरेषा मनीषिणाम् ॥ ५ ॥

भावार्थ : जिस धन धान्य को पाकर कृपण लोग पूर्णता का अनुभव करते हैं, उन्हीं बाह्य पदार्थों की उपेक्षा करके ज्ञानी पुरुष पूर्णता का अनुभव करते हैं, एसी पूर्णता के आनन्दरुप अमृत से स्निग्धदृष्टि तत्त्वज्ञानीयों/मनीषियों की होती हैं ॥५॥

अपूर्णः पूर्णतामेति, पूर्यमाणस्तु हीयते ।
पूर्णानन्दस्वभावोऽयं जगदद्भुतदायकः ॥ ६ ॥

भावार्थ : जो धन धान्य आदि बाह्य भावों से अपूर्ण है, वही वास्तव में पूर्ण है । और जो बाह्य पदार्थों से अपने को पूर्ण करता रहता है, वह वास्तव में अपूर्ण है । पूर्णता में आनंद का अनुभव करने वाली आत्मा का स्वभाव जगत को आश्चर्यचकित कर देने वाला है ॥६॥

परस्वत्वकृतोन्माथा, भूनाथा न्यूनतेक्षिणः ।
स्वस्वत्वसुखपूर्णस्य न्यूनता न हरेरपि ॥ ७ ॥

भावार्थ : पर पदार्थों में स्वत्व की कल्पना से उन्मत्त बने राजा भी सदैव अपनी न्यूनता को ही देखते हैं । जबकि स्व अर्थात् आत्मा को ही स्व मानने के पूर्ण सुख का अनुभव करने वाली आत्मा को इन्द्र से भी कुछ भी न्यूनता का आभास नहीं होता ॥७॥

कृष्णे पक्षे परिक्षीणे, शुक्ले च समुदञ्चति ।
द्योतन्ते सकलाध्यक्षाः पूर्णानन्दविधोः कलाः ॥ ८ ॥

भावार्थ : कृष्णपक्ष की समाप्ति पर शुक्लपक्ष का उदय होता है, तब चन्द्रमा की कलाएँ प्रकाशित होती हैं । उसी प्रकार आत्मा का कृष्णपक्ष अर्थात् अज्ञान, माया, आदि का नाश होने पर पूर्ण आनंद रूप कलाएँ प्रकट होती हैं ॥८॥

मग्नताष्टकम्-2

प्रत्याहृत्येन्द्रियव्यूहं, समाधाय मनो निजम् ।
दधच्चिन्मात्रविश्रान्तिं मग्न इत्यभिधीयते ॥ १ ॥

भावार्थ : विषयों की ओर आकृष्ट होती हुई इन्द्रियों को उनसे विमुख कर तथा अपने मन को स्थिर कर चैतन्य मात्र में विश्राम प्राप्त आत्मा मग्न कहलाती है ॥१॥

यस्य ज्ञानसुधासिन्धौ, परब्रह्मणि मग्नता ।
विषयान्तरसंचार स्तस्य हालाहलोपमः ॥ २ ॥

भावार्थ : जिसे ज्ञानस्वरूप अमृत सागर ऐसे पर ब्रह्म अर्थात् परमात्मा में लीनता होती है, उसे अन्य विषयों में हो रही प्रवृत्ति जहर के समान अनिष्ट लगती है ॥२॥

स्वभावसुखमग्नस्य, जगत्तत्त्वावलोकिनः ।
कर्तृत्वं नान्यभावानां साक्षित्वमवशिष्यते ॥ ३ ॥

भावार्थ : सहज स्वभाव के आनंद में मग्न तथा जगत् के स्वरूप का यथार्थ द्रष्टा आत्मा को अन्य पदार्थों का कर्त्ता भाव नहीं रहता, मात्र साक्षी–भाव रहता है ॥३॥

परब्रह्मणि मग्नस्य, श्लथा पौद्गलिकी कथा ।
क्वामी चामीकरोन्मादाः स्फारा दारादराः क्व च ॥ ४ ॥

भावार्थ : परब्रह्म अर्थात् परमात्म स्वरूप में लीन आत्मा को पुद्गल की बातें भी नीरस लगती हैं । तो उसे सुवर्ण का अभिमान और स्त्रियों में (भोग में) आदर कहाँ से होगा ? ॥४॥

तेजोलेश्याविवृद्धिर्या, साधोः पर्यायवृद्धितः ।
भाषिता भगवत्यादौ सेत्थम्भूतस्य युज्यते ॥ ५ ॥

भगवती आदि सूत्रों में बताया गया है साधु को पर्याय वृद्धि से तेजोलेश्या वृद्धि होती है, वह कथन ऐसे अध्यात्म दशा में मग्न साधुओं में ही घटित होता है ॥५॥

ज्ञानमग्नस्य यच्छर्म, तद् वक्तुं नैव शक्यते ।
नोपमेयं प्रियाश्लेषै र्नापि तच्चन्दनद्रवैः ॥ ६ ॥

भावार्थ : ज्ञान में मग्न आत्माओं के आनंद का वर्णन कदापि शक्य नहीं है ।

स्त्री सुख अथवा चन्दन विलेपन से प्राप्त सुख के साथ भी उस सुख की तुलना संभव नहीं है ॥६॥

शमशैत्यपुषो यस्य, विप्रुषोऽपि महाकथा ।
किं स्तुमो ज्ञानपीयूषे तत्र सर्वाङ्गमग्नताम् ? ॥ ७ ॥

भावार्थ : उपशम की शीतलता को पुष्ट करने वाली ज्ञान-मग्नता के आनंद के एक बिंदुमात्र की भी कथा महान् है । तो उस ज्ञानानंद रूप अमृत से सम्पूर्ण मग्न आत्माओं के आनंद की क्या प्रशंसा करुँ ? ॥७॥

यस्य दृष्टिः कृपावृष्टिर्गिरः शमसुधाकिरः ।
तस्मै नमः शुभज्ञान ध्यानमग्नाय योगिने ॥ ८ ॥

भावार्थ : जिनकी दृष्टि करुणा की वृष्टि करती है । जिनकी वाणी उपशम रूप अमृत का छिड़काव करती है । उन सम्यक् ज्ञान तथा ध्यान में मग्न योगियों को नमस्कार हो ॥८॥

स्थिरताष्टकम्-3

वत्स ! किं चञ्चलस्वान्तो, भ्रान्त्वा भ्रान्त्वाविषीदसि ।
निधिं स्वसन्निधावेव स्थिरता दर्शयिष्यति ॥ १ ॥

भावार्थ : हे वत्स ! मन को चंचल बनाकर तू भटक भटक कर क्यों दु:खी होता है ? तेरा खजाना तेरे पास ही है ! तेरी स्थिरता ही उस निधान को दिखायेगी ! ॥१॥

ज्ञानदुग्धं विनश्येत, लोभविक्षोभकूर्चकैः ।
अम्लद्रव्यादिवास्थैर्या दिति मत्वा स्थिरो भव ॥ २ ॥

भावार्थ : खट्टे पदार्थों के स्पर्श से दूध बिगड़ जाता है, उसी प्रकार लोभ के विकार रूप कूर्चकों से ज्ञानरूप दूध बिगड़ जाता है, ऐसा समझकर स्थिर बन ! ॥२॥

अस्थिरे हृदये चित्रा, वाङ्नेत्राकारगोपना ।
पुंश्चल्या इव कल्याण -कारिणी न प्रकीर्तिता ॥ ३ ॥

भावार्थ : कुलटा स्त्री की तरह चित्त चंचल हो, फिर भी वाणी व नेत्रों के बाह्य आकार से उसे छिपाना, कल्याणकारी नहीं कहा गया है। (कल्याण तो इसी में है कि मन को ही स्थिर करें) ॥३॥

अन्तर्गतं महाशल्य मस्थैर्यं यदि नोद्धृतम् ।
क्रियौषधस्य को दोष स्तदा गुणमयच्छतः ॥ ४ ॥

भावार्थ : यदि अस्थिरता रूप अंदर के महाशल्य को दूर न किया जाय तो क्रिया रूप औषधि लाभ नहीं करती । तो इसमें क्रिया का कोई दोष नहीं है ॥४॥

स्थिरता वाङ्मनःकायै-र्येषामङ्गाङ्गितां गता ।
योगिनः समशीलास्ते ग्रामेऽरण्ये दिवा निशि ॥ ५ ॥

भावार्थ : जिनके मन, वचन व काया द्वारा स्थिरता एकाकार हो गई है, ऐसे योगी गाँव हो या जंगल, रात्रि हो या दिन, समभाव में ही रहते हैं ॥५॥

स्थैर्यरत्नप्रदीपश्चेद्, दीप्रः सङ्कल्पदीपजैः ।
तद्विकल्पैरलं धूमैरलंधूमैस्तथाश्रवैः ॥ ६ ॥

भावार्थ : यदि स्थिरतारूप रत्न-दीपक प्रज्ज्वलित हो रहा है, तो संकल्परूप दीप से प्रगट होते विकल्प रूप धुएँ का व अतिमलिन पापों से (आश्रव) क्या ? (अर्थात् वहाँ पाप व विकल्प नहीं हो सकते) ॥६॥

उदीरयिष्यसि स्वान्तादस्थैर्यं पवनं यदि ।
समाधेर्धर्ममेघस्य घटां विघटयिष्यसि ॥ ७ ॥

भावार्थ : यदि अस्थिरतारूप पवन अन्तःकरण में प्रगट करेगा तो समाधि रूप धर्म बादल की घटाएँ बिखर जाएँगी ॥७॥

चारित्रं स्थिरतारूप, मतः सिद्धेष्वपीष्यते ।
यतन्तां यतयोऽवश्यमस्या एव प्रसिद्धये ॥ ८ ॥

भावार्थ : चारित्र स्थिरता रूप है, इस कारण सिद्धों में भी चारित्र माना गया है । अतः इस स्थिरता की सम्पूर्ण सिद्धि के लिये अवश्य पुरुषार्थ करो ॥८॥

मोहाष्टकम्-4

अहं ममेति मन्त्रोऽयं, मोहस्य जगदान्ध्यकृत् ।
अयमेव हि नञ्पूर्वः प्रतिमन्त्रोऽपि मोहजित् ॥ १ ॥

भावार्थ : "मैं और मेरा" यह मोह राजा का मंत्र है, वह जगत् को अंधा करने वाला है और नकारपूर्वक यही विरोधी मंत्र भी बन जाता है । वही मोह को जीतने वाला है ॥१॥

शुद्धात्मद्रव्यमेवाहं, शुद्धज्ञानं गुणो मम ।
नान्योऽहं न ममान्ये चेत्यदो मोहास्त्रमुल्बणम् ॥ २ ॥

भावार्थ : मैं शुद्ध आत्मद्रव्य हूँ केवल ज्ञान मेरा गुण है और इस कारण मैं भिन्न नहीं हूँ, न अन्य पदार्थ मेरे हैं, इस प्रकार का चिन्तन मोह का नाश करने वाला तीव्र शस्त्र है ॥२॥

यो न मुह्यति लग्नेषु, भावेष्वौदयिकादिषु ।
आकाशमिव पङ्केन नासौ पापेन लिप्यते ॥ ३ ॥

भावार्थ : जो लगे हुवे औदयिक भावों में नहीं फंसता, वह जीव पाप से लिप्त नहीं होता । वैसे ही जैसे आकाश कभी कीचड़ से लिप्त नहीं होता ॥३॥

पश्यन्नेव परद्रव्य, नाटकं प्रतिपाटकम् ।
भवचक्रपुरस्थोऽपि, नामूढः परिखिद्यति ॥ ४ ॥

भावार्थ : अनादि अनंत कर्म परिणाम राजा की राजधानी स्वरूप भवचक्र नामक नगर में रहने पर भी एकेन्द्रिय आदि नगर के दरवाजे-दरवाजे पर-द्रव्य का जन्म जरा मरणादि रूप नाटक देखती हुई मोह रहित आत्मा खिन्न नहीं होती ॥४॥

विकल्पचषकैरात्मा, पीतमोहासवो ह्ययम् ।
भवोच्चतालमुत्ताल प्रपञ्चमधितिष्ठति ॥ ५ ॥

भावार्थ : विकल्प रूप मदिरा पात्रों के द्वारा मोह मदिरा पीने वाला यह जीव निश्चय ही जहाँ हाथ ऊँचे करके तालियाँ बजाने की चेष्टा की जाती है, ऐसे संसार रूप अड्डे का आश्रय लेता है ॥५॥

निर्मलं स्फटिकस्येव, सहजं रूपमात्मनः ।
अध्यस्तोपाधिसंबन्धो जडस्तत्र विमुह्यति ॥ ६ ॥

भावार्थ : आत्माका स्वाभाविक सिद्ध स्वरूप स्फटिक जैसा निर्मल है उसमें उपाधि का संबंध आरोपित करके अविवेकी जीव उसमें फंसता है ॥६॥

अनारोपसुखं मोह-त्यागादनुभवन्नपि ।
आरोपप्रियलोकेषु, वक्तुमाश्चर्यवान् भवेत् ॥ ७ ॥

भावार्थ : मोह के त्याग से आरोप रहित स्वभाव के सुख का योगी अनुभव करता हुआ भी, झूठा जिन्हें प्रिय है

ऐसे लोगों के सामने अपना सुखानुभव कहता हुआ आश्चर्य वाला बनता है ॥७॥

यश्चिद्दर्पणविन्यस्त-समस्ताचारचारुधीः ।
क्व नाम स परद्रव्ये ऽनुपयोगिनि मुह्यति ॥ ८ ॥

भावार्थ : ज्ञान रूपी दर्पण में स्थापित समस्त ज्ञानादि पाँच आचारों द्वारा जो सुन्दर बुद्धि वाला है, ऐसा योगी अनुपयोगी पर - द्रव्यों में आसक्त क्यों होगा ? ॥८॥

ज्ञानाष्टकम्-5

मज्जत्यज्ञः किलाज्ञाने, विष्ठायामिव शूकरः ।
ज्ञानी निमज्जति ज्ञाने, मराल इव मानसे ॥ १ ॥

भावार्थ : जिस प्रकार शूकर विष्ठा में मग्न होता है वैसे ही अज्ञानी अज्ञान में ही मग्न हो जाता है। जिस प्रकार हंस मान सरोवर में निमग्न होता है, उसी प्रकार ज्ञानी पुरुष ज्ञान में ही निमग्न होते हैं ॥१॥

निर्वाणपदमप्येकं, भाव्यते यन्मुहुर्मुहुः ।
तदेव ज्ञानमुत्कृष्टं, निर्बन्धो नास्ति भूयसा ॥ २ ॥

भावार्थ : एक मात्र मोक्ष साधक पद बारम्बार आत्मा द्वारा भावित होता है अर्थात् बार-बार चिन्तन किया जाता है वही ज्ञान परिपूर्ण है। ज्यादा ज्ञान का आग्रह नहीं है ॥२॥

स्वभावलाभसंस्कार, कारणं ज्ञानमिष्यते ।
ध्यान्ध्यमात्रमतस्त्वन्यत्, तथा चोक्तं महात्मना ॥ ३ ॥

भावार्थ : जो ज्ञान आत्म स्वभाव की प्राप्ति के संस्कार का कारणभूत है, वही ज्ञान इच्छनीय है उसके अलावा जो भी पढ़ा जाता है वह तो बुद्धि का अंधत्व है, एसी प्रकार महात्मा पतंजलीने भी कहा हैं ॥३॥

वादांश्च प्रतिवादांश्च, वदन्तोऽनिश्चितांस्तथा ।
तत्त्वान्तं नैव गच्छन्ति, तिलपीलकवद् गतौ ॥ ४ ॥

भावार्थ : अनिश्चित अर्थवाले वाद और प्रतिवाद करने वाले जीव आगे बढ़ने में घाणी के बैल तरह तत्व निर्णय को प्राप्त नहीं कर पाते हैं ॥४॥

स्वद्रव्यगुणपर्याय, चर्या वर्या परान्यथा ।
इति दत्तात्मसंतुष्टि- र्मुष्टिज्ञानस्थितिर्मुनेः ॥ ५ ॥

भावार्थ : अपने द्रव्य गुण और पर्याय में परिणत रहना श्रेष्ठ है परद्रव्य-गुण-पर्याय में परिणत होना श्रेष्ठ नहीं है, इस प्रकार जिसने अपनी आत्मा को संतोष दिया है ऐसी संक्षेप से रहस्य ज्ञान की मर्यादा मुनि को होती है ॥५॥

अस्ति चेद् ग्रन्थिभिज्ज्ञानं, किं चित्रैस्तन्त्रयन्त्रणैः ? ।
प्रदीपाः क्वोपयुज्यन्ते, तमोघ्नी दृष्टिरेव चेत् ? ॥ ६ ॥

भावार्थ : ग्रन्थि भेद से जिसे ज्ञान हो गया है, उसको अनेक प्रकार के शास्त्रों का बंधन किस काम का है ? जहाँ

आँख ही अंधकार को नाश कर देती है, वहाँ दीपकों का क्या उपयोग है ? ॥६॥

मिथ्यात्वशैलपक्षच्छिज् ज्ञानदम्भोलिशोभितः ।
निर्भयः शक्रवद्योगी, नन्दत्यानन्दनन्दने ॥ ७ ॥

भावार्थ : मिथ्यात्व रूप पर्वत के पक्ष का छेद करने वाला और ज्ञान रूप वज्र से सुशोभित और इन्द्र के समान निर्भय योगी आनन्द रूप नंदन वन में क्रीडा करता है, सुख अनुभव करता है ॥७॥

पीयूषमसमुद्रोत्थं, रसायनमनौषधम् ।
अनन्यापेक्षमैश्वर्यं, ज्ञानमाहुर्मनीषिणः ॥ ८ ॥

भावार्थ : ज्ञान अमृत है लेकिन समुद्र से उत्पन्न नहीं है । ज्ञान रसायन है, पर औषध नहीं है । ज्ञान ऐश्वर्य है, पर किसी अन्य की अपेक्षा नहीं है, ऐसा ज्ञानी कहते हैं ॥८॥

शमाष्टकम्-6

विकल्पविषयोत्तीर्णः, स्वभावालम्बनः सदा ।
ज्ञानस्य परिपाको यः, स शमः परिकीर्तितः ॥ १ ॥

भावार्थ : विकल्प रूप विषयों से निवृत्त बना, निरन्तर आत्मा के शुद्ध स्वभाव का आलंबन जिसे है, ऐसा ज्ञान का परिणाम समभाव कहलाता है ॥१॥

अनिच्छन् कर्मवैषम्यं, ब्रह्मांशेन समं जगत् ।
आत्माभेदेन यः पश्येदसौ मोक्षंगमी शमी ॥ २ ॥

भावार्थ : जो कर्म की विषमता को नहीं चाहता, परमात्मा के अंश द्वारा बने एक स्वरूप वाले जगत को जो अपनी आत्मा से अभिन्न देखता है, वह उपशम वाली आत्मा अवश्य मोक्षगामी होती है ॥२॥

आरुरुक्षुर्मुनिर्योगं, श्रयेद् बाह्यक्रियामपि ।
योगारूढः शमादेव, शुद्ध्यत्यन्तर्गतक्रियः ॥ ३ ॥

भावार्थ : समाधि योग में ऊपर चढ़ने की आकांक्षा वाला साधु बाह्य आचार का भी सेवन करता है, लेकिन योगारूढ़ आभ्यन्तर क्रियावान् साधु तो समभाव से ही शुद्ध होता है ॥३॥

ध्यानवृष्टेर्दयानद्याः, शमपूरे प्रसर्पति ।
विकारतीरवृक्षाणां, मूलादुन्मूलनं भवेत् ॥ ४ ॥

भावार्थ : ध्यान रूप वर्षा से दया रूप नदी का उपशम रूप पूर बढ़ने से किनारे पर स्थित विकार रूप वृक्ष जड़ मूल से उखड़ जाते हैं ॥४॥

ज्ञानध्यानतपःशील, सम्यक्त्वसहितोऽप्यहो ! ।
तं नाप्नोति गुणं साधु, यं प्राप्नोति शमान्वितः ॥ ५ ॥

भावार्थ : समयुक्त साधु जिस गुण को प्राप्त करता है । अहो ! ज्ञान-ध्यान-तप-शील और सम्यक्त्व सहित साधु भी उस गुण को प्राप्त नहीं कर सकता ॥५॥

स्वयम्भूरमणस्पर्द्धि,-वर्धिष्णुसमतारसः ।
मुनिर्येनोपमीयेत, कोऽपि नासौ चराचरे ॥ ६ ॥

भावार्थ : जिस मुनि का समतारस स्वयंभूरमण समुद्र की स्पर्धा करता हो, इस प्रकार वृद्धि प्राप्त करता है, उस मुनि की तुलना करने योग्य कोई भी पदार्थ समग्र विश्व में नहीं हैं ॥६॥

शमसूक्तसुधासिक्तं, येषां नक्तंदिनं मनः ।
कदापि ते न दह्यन्ते रागोरगविषोर्मिभिः ॥ ७ ॥

भावार्थ : जिनका मन रात और दिन सम के सुभाषित अमृत द्वारा सिंचित है, वे कभी भी राग रूप सर्प के जहर की उर्मियों द्वारा नहीं जलते हैं ॥७॥

गर्जद्ज्ञानगजोत्तुङ्ग- रङ्गद्ध्यानतुरङ्गमाः ।
जयन्ति मुनिराजस्य, शमसाम्राज्यसंपदः ॥ ८ ॥

भावार्थ : जिनके पास गर्जना करते ज्ञानरूप हाथी और खेलते हुए ध्यानरूप घोड़े हैं, ऐसे मुनिराज रूप राजा के शमरूप साम्राज्य की संपत्ति सदा जयवन्त रहती है ॥८॥

इन्द्रिय-जयाष्टकम्-7

बिभेषि यदि संसारान्, मोक्षप्राप्तिं च काङ्क्षसि ।
तदेन्द्रियजयं कर्तुं, स्फोरय स्फार पौरुषम् ॥ १ ॥

भावार्थ : यदि तू संसार से डरता है और मोक्ष प्राप्ति की आकांक्षा रखता है तो इन्द्रियों पर विजय प्राप्त करने के लिए उग्र पराक्रम प्रकट कर ॥१॥

वृद्धास्तृष्णाजलापूर्णै, रालवालैः किलेन्द्रियैः ।
मूर्छामतुच्छां यच्छन्ति, विकारविषपादपाः ॥ २ ॥

भावार्थ : तृष्णारूप जल से परिपूर्ण इन्द्रियाँ रूप क्यारियों में पोषित विकाररूप विषवृक्ष आत्मा को गाढ मूर्च्छित करते हैं ॥२॥

सरित्सहस्त्रदुष्पूर- समुद्रोदरसोदरः ।
तृप्तिमान्नेन्द्रियग्रामो, भव तृप्तोऽन्तरात्मना ॥ ३ ॥

भावार्थ : हजारों नदियों से भी जिसे पूर्ण नहीं किया जा सकता, ऐसे समुद्र के पेट के समान इन्द्रियों का समूह तृप्त नहीं होता, ऐसा जानकर अन्तरात्म भाव से तृप्त बन ॥३॥

आत्मानं विषयैः पाशै-र्भववास-पराडमुखम् ।
इन्द्रियाणि निबध्नन्ति, मोहराजस्य किङ्कराः ॥ ४ ॥

भावार्थ : संसारवास से उद्विग्न बनी आत्मा को भी मोह राजा की नौकररूप इन्द्रियाँ विषयरूप बंधन से बांध देती हैं ॥४॥

गिरिमृत्स्नां धनं पश्यन्, धावतीन्द्रियमोहितः ।
अनादिनिधनं ज्ञानं, धनं पार्श्वे न पश्यति ॥ ५ ॥

भावार्थ : इन्द्रियों के विषय में मूढ बना हुआ जीव पर्वत की मिट्टी में भी धन देखकर दौड़ता रहता है लेकिन अपने भीतर भरे अनादि अनंत ज्ञानरूप धन को नहीं देखता ॥५॥

पुरः पुरः स्फुरत्तृष्णा, मृगतृष्णानुकारिषु ।
इन्द्रियार्थेषु धावन्ति, त्यक्त्वा ज्ञानामृतं जडाः ॥ ६ ॥

जिनकी तृष्णा उत्तरोत्तर बढ़ती रहती है, ऐसे मूर्ख पुरुष ज्ञान रूप अमृत को छोड़कर मृग तृष्णा रूप इन्द्रियों के विषयों में दौड़ता रहता है ॥६॥

पतङ्गभृङ्गमीनेभ, सारङ्गा यान्ति दुर्दशाम् ।
एकैकेन्द्रियदोषाच्चेद्, दुष्टैस्तैः किं न पञ्चभिः ॥ ७ ॥

भावार्थ : तितली, भ्रमर, हाथी और हिरण ये एक-एक इन्द्रिय में आसक्त होकर जब दुर्दशा को प्राप्त करते हैं तो दुष्ट पांचों इन्द्रियों द्वारा क्या नहीं हो सकता ? ॥७॥

विवेकद्विपहर्यक्षैः, समाधिधनतस्करैः ।
इन्द्रियैर्योन जितोऽसौ, धीराणां धुरि गण्यते ॥ ८ ॥

भावार्थ : विवेकरूप हाथी का नाश करने में सिंह के समान और समाधिरूप धन को लूटने वाली दुष्ट इन्द्रियों से जो नहीं हारा, वह धीर पुरुषों में अग्र माना जाता है ॥८॥

त्यागाष्टकम्-8

संयतात्मा श्रये शुद्धोपयोगं पितरं निजम् ।
धृतिमम्बां च पितरौ, तन्मां विसृजतं ध्रुवम् ॥ १ ॥

भावार्थ : संयम से विमुख बना हुआ मैं शुद्ध उपयोगरूप अपने पिता का और आत्मरति रूप माता का आश्रय स्वीकार करता हूँ, अतः हे ! माता-पिता मुझे अवश्य छोड़ो ॥१॥

युष्माकं सङ्गमोऽनादिर्बन्धवोऽनियतात्मनाम् ।
ध्रुवैकरूपान् शीलादि, बन्धूनित्यधुना श्रये ॥ २ ॥

भावार्थ : हे बन्धुओ ! तुम्हारा संबंध प्रवाह से अनादि है और अनिश्चित स्वरूप वाला है अतः अब मैं नित्य एक स्वरूप वाले शील आदि बन्धुओं का आश्रय ग्रहण करता हूँ ॥२॥

कान्ता मे समतैवैका, ज्ञातयो मे समक्रियाः ।
बाह्यवर्गमिति त्यक्त्वा, धर्मसंन्यासवान् भवेत् ॥ ३ ॥

भावार्थ : एक समता ही मेरी पत्नी है और समान आचरण वाले साधु मेरे ज्ञातिजन है (ऐसा विचार कर) इस प्रकार बाह्य वर्ग का त्यागकर धर्म - संन्यासी होता है ॥३॥

धर्मास्त्याज्याः सुसङ्गोत्थाः, क्षायोपशमिका अपि ।
प्राप्य चन्दनगन्धाभं, धर्मसन्यासमुत्तमम् ॥ ४ ॥

भावार्थ : चंदन की सुगंध के समान श्रेष्ठ धर्म संन्यास को प्राप्त कर लेने के बाद सत्संग से उत्पन्न क्षायोपशमिक धर्म भी छोड़ने योग्य होते हैं ॥४॥

गुरुत्वं स्वस्य नोदेति, शिक्षासात्म्येन यावता ।
आत्मतत्त्वप्रकाशेन, तावत् सेव्यो गुरूत्तमः ॥ ५ ॥

भावार्थ : जब तक शिक्षा के सम्यक् परिणाम से आत्म स्वरूप के बोध द्वारा स्वयं का गुरुत्व प्रकट नहीं होता तब तक उत्तम गुरु का सेवन करना चाहिये ॥५॥

ज्ञानाचारादयोऽपीष्टाः शुद्धस्वस्वपदावधि ।
निर्विकल्पे पुनस्त्यागे, न विकल्पो न वा क्रिया ॥ ६ ॥

भावार्थ : ज्ञानाचार आदि आचारों का पालन भी अपने उस उस शुद्ध पद की प्राप्ति तक ही इष्ट है निर्विकल्प समाधि रूप त्याग की अवस्था में कोई विकल्प भी नहीं है और कोई क्रिया भी नहीं है ॥६॥

योगसंन्यासतस्त्यागी, योगानप्यखिलांस्त्यजेत् ।
इत्येवं निर्गुणं ब्रह्म, परोक्तमुपपद्यते ॥ ७ ॥

भावार्थ : त्यागी आत्मा अन्त में योग संन्यास से समस्त योगों का भी त्याग करता है, इस प्रकार अन्य दर्शनों में वर्णित निर्गुण ब्रह्म भी घटित हो जाता है ॥७॥

वस्तुतस्तु गुणैः पूर्णमनन्तैर्भासते स्वतः ।
रूपं त्यक्तात्मनः साधो, निरभ्रस्य विधोरिव ॥ ८ ॥

भावार्थ : जिस प्रकार बादल रहित चन्द्रमा अपने तेज से स्वयं प्रकाशित होता है, उसी प्रकार अनंत गुणों से परिपूर्ण त्यागवंत साधु का स्वरूप स्वयं प्रकाशित होता है ॥८॥

क्रियाष्टकम्-9

ज्ञानी क्रियापरः शान्तो, भावितात्मा जितेन्द्रियः ।
स्वयं तीर्णो भवाम्भोधेः, परांस्तारयितुं क्षमः ॥ १ ॥

भावार्थ : सम्यग् ज्ञानी, क्रिया में तत्पर, शान्त, भावित और इन्द्रिय विजेता ऐसी आत्मा स्वयं संसाररूपी समुद्र से तिरी हुई है और अन्यों को भी तारने में समर्थ है ॥१॥

क्रियाविरहितं हन्त, ज्ञानमात्रमनर्थकम् ।
गतिं विना पथज्ञोऽपि, नाप्नोति पुरमीप्सितम् ॥ २ ॥

भावार्थ : क्रियारहित अकेला ज्ञान निश्चित ही असमर्थ है । मार्ग का जानकार भी चलने की क्रिया के अभाव में इच्छित नगर नहीं पहुँच सकता ॥२॥

स्वानुकूलां क्रियां काले, ज्ञानपूर्णोऽप्यपेक्षते ।
प्रदीपः स्वप्रकाशोऽपि, तैलपूर्त्यादिकं यथा ॥ ३ ॥

भावार्थ : जिस प्रकार दीपक स्वयं प्रकाशरूप है फिर भी तेल डालने आदि की क्रियाएँ अपेक्षित रहती हैं उसी प्रकार पूर्ण ज्ञानी भी समयानुसार स्वभाव रूप कार्य के अनुकूल क्रियाओं की अपेक्षा रखता है ॥३॥

बाह्यभावं पुरस्कृत्य, ये क्रियाऽव्यवहारतः ।
वदने कवलक्षेपं, विना ते तृप्तिकाङ्क्षिणः ॥ ४ ॥

भावार्थ : क्रिया के बाह्य भाव को आगे रखकर जो लोक व्यवहार से क्रिया निषेध करते हैं वे मुँह में निवाला रखे बिना ही तृप्ति पाना चाहते हैं ॥४॥

गुणवद्बहुमानादेर्नित्यस्मृत्या च सत्क्रिया ।
जातं न पातयेद् भाव, मजातं जनयेदपि ॥ ५ ॥

भावार्थ : गुणवंत के बहुमान आदि से तथा स्वीकृत नियमों के नित्य स्मरण से शुभ क्रिया उत्पन्न भावों की रक्षा करती है अर्थात् गिरने नहीं देती और अनुत्पन्न भावों को भी प्रकट करती है ॥५॥

क्षायोपशमिके भावे, या क्रिया क्रियते तया ।
पतितस्यापि तद्भाव, प्रवृद्धिर्जायते पुनः ॥ ६ ॥

भावार्थ : क्षायोपशमिक भाव में जो क्रिया की जाती है उस क्रिया के द्वारा पतित भावों की भी विशुद्धि एवं वृद्धि होती है ॥६॥

गुणवृद्ध्यै ततः कुर्यात्, क्रियामस्खलनाय वा ।
एकं तु संयमस्थानं, जिनानामवतिष्ठते ॥ ७ ॥

भावार्थ : इसलिए गुण की वृद्धि के लिये अथवा उत्पन्न भाव गिर न जाय इसलिए क्रिया करनी चाहिये । एक संयम का स्थान तो केवल ज्ञानी को ही रहता है ॥७॥

वचोऽनुष्ठानतोऽसङ्ग, क्रियासङ्गतिमङ्गति ।
सेयं ज्ञानक्रियाऽभेद, भूमिरानन्दपिच्छला ॥ ८ ॥

भावार्थ : वचनानुष्ठान से असंग क्रिया की योग्यता प्राप्त होती है। वह ज्ञान और क्रिया की अभेद भूमि है और आत्मा के आनंद द्वारा भीगी हुई है ॥८॥

तृप्त्यष्टकम्-10

पीत्वा ज्ञानामृतं भुक्त्वा, क्रियासुरलताफलम् ।
साम्यताम्बूलमास्वाद्य, तृप्तिं याति परां मुनिः ॥ १ ॥

भावार्थ : ज्ञानरूप अमृत पीकर, क्रियारूप कल्पलता के फल को खाकर, समभाव रूप ताम्बूल का आस्वाद लेकर साधु अत्यन्त तृप्ति को प्राप्त करता है ॥१॥

स्वगुणैरेव तृप्तिश्चेदाकालमविनश्वरी ।
ज्ञानिनो विषयैः किं तैर्यैर्भवेत्तृप्तिरित्वरी ॥ २ ॥

भावार्थ : यदि ज्ञानी को अपने ज्ञानादि गुणों द्वारा ही कभी नष्ट न हो ऐसी तृप्ति होती है तो फिर जिन विषयों के द्वारा स्वल्प काल की ही तृप्ति होती है, उन विषयों का क्या प्रयोजन है ? ॥२॥

या शान्तैकरसास्वादाद्, भवेत् तृप्तिरतीन्द्रिया ।
सा न जिह्वेन्द्रियद्वारा, षड्रसास्वादनादपि ॥ ३ ॥

भावार्थ : शान्तरस रूप अद्वितीय रस के अनुभव से जो अतीन्द्रिय तृप्ति होती है वह जिह्वेन्द्रिय द्वारा षट् रस के भोजन से भी नहीं हो सकती ॥३॥

संसारे स्वप्नवन् मिथ्या, तृप्तिः स्यादाभिमानिकी ।
तथ्या तु भ्रान्तिशून्यस्य, सात्मवीर्यविपाककृत् ॥ ४ ॥

भावार्थ : संसार में अभिमान मान्यता से प्राप्त हुई तृप्ति स्वप्न की तरह (मिथ्या) होती है । सच्ची तृप्ति तो मिथ्या ज्ञान रहित को ही होती है और वह आत्मा के वीर्य को पुष्ट करने वाली होती है ॥४॥

पुद्गलैः पुद्गलास्तृप्तिं, यान्त्यात्मा पुनरात्मना ।
परतृप्तिसमारोपो, ज्ञानिनस्तन्न युज्यते ॥ ५ ॥

भावार्थ : पुद्गलों के द्वारा पुद्गल तृप्ति प्राप्त करते हैं और आत्मगुणों के द्वारा आत्मा तृप्त होती है । इस कारण से पुद्गल तृप्ति में आत्म-तृप्ति घटित नहीं होती ऐसा ज्ञानियों का अनुभव है ॥५॥

मधुराज्यमहाशाका, ग्राह्ये बाह्ये च गोरसात् ।
परब्रह्मणि तृप्तिर्या, जनास्तां जानतेऽपि न ॥ ६ ॥

भावार्थ : सुन्दर राज्य में बड़ी आशा जिनको है ऐसे पुरुषों द्वारा प्राप्त न हो सके ऐसी वाणी से अगोचर परमात्मा के विषय में जो तृप्ति होती है उसे लोग जानते भी नहीं हैं ॥६॥

विषयोर्मिविषोद्‌गारः, स्यादतृप्तस्य पुद्‌गलैः ।
ज्ञानतृप्तस्य तु ध्यान, सुधोद्‌गारपरंपरा ॥ ७ ॥

भावार्थ : पुद्गलों के परिभोग से अतृप्त ऐसे (मनुष्यों को) विषय के तरंग रूप जहर का उद्गार (डकार) प्रकट होता है। ज्ञान से तृप्त साधकों को तो ध्यान रूप अमृत के उद्गार (डकार) की परम्परा होती है ॥७॥

सुखिनो विषयातृप्ता, नेन्द्रोपेन्द्रादयोऽप्यहो ।
भिक्षुरेकः सुखी लोके, ज्ञानतृप्तो निरञ्जनः ॥ ८ ॥

भावार्थ : विषयों से अतृप्त इन्द्र, उपेन्द्र आदि भी सुखी नहीं हैं यह आश्चर्य है। जगत में ज्ञान से तृप्त कर्ममल रहित ऐसा एक साधु ही सुखी है ॥८॥

निर्लेपाष्टकम्-11

संसारे निवसन् स्वार्थ, सज्जः कज्जलवेश्मनि ।
लिप्यते निखिलो लोको, ज्ञानसिद्धो न लिप्यते ॥ १ ॥

भावार्थ : काजल के घर समान संसार में रहता हुआ स्वार्थ से युक्त सारा लोक कर्म से लिप्त होता है जबकि ज्ञान से परिपूर्ण जीव (ऐसे संसार में रहते हुए भी) लिप्त नहीं होता ॥१॥

नाहं पुद्गलभावानां, कर्ता कारयिताऽपि न ।
नानुमन्तापि चेत्यात्म, ज्ञानवान् लिप्यते कथम् ॥ २ ॥

भावार्थ : पौद्गलिक भावों का न मैं करने वाला हूँ, न कराने वाला हूँ और न मैं इसका अनुमोदन करने वाला हूँ

ऐसा चिंतन करने वाला आत्मज्ञानी कैसे लिप्त हो सकता है ॥२॥

लिप्यते पुद्‌गलस्कन्धो, न लिप्ये पुद्‌गलैरहम् ।
चित्रव्योमाञ्जनेनेव, ध्यायन्निति न लिप्यते ॥ ३ ॥

भावार्थ : पुद्गलों का स्कंध (ही) पुद्गलों द्वारा लिप्त होता है, मैं नहीं । जिस प्रकार अञ्जन के द्वारा विचित्र आकाश (लिप्त नहीं हो सकता वैसे) । इस प्रकार ध्यान करने वाली आत्मा लिप्त नहीं होती ॥३॥

लिप्तताज्ञानसम्पात, प्रतिघाताय केवलम् ।
निर्लेपज्ञानमग्नस्य, क्रिया सर्वोपयुज्यते ॥ ४ ॥

भावार्थ : ''आत्मा निर्लेप है'' ऐसे निर्लेप ज्ञान में मग्न आत्मा को सभी आवश्यक आदि क्रियाएँ केवल ''आत्मा कर्मबद्ध है'' ऐसी लिप्तता के ज्ञान के आगमन को रोकने के लिये उपयोगी बनती है ॥४॥

तपःश्रुतादिना मत्तः, क्रियावानपि लिप्यते ।
भावनाज्ञानसम्पन्नो, निष्क्रियोऽपि न लिप्यते ॥ ५ ॥

भावार्थ : तप और श्रुत आदि से अभिमानी बनी आत्मा क्रियावान होने पर भी लिप्त होती है । भावना ज्ञान से संपन्न आत्मा क्रियारहित होने पर भी लिप्त नहीं होती ॥५॥

अलिप्तो निश्चयेनात्मा, लिप्तश्च व्यवहारतः ।
शुद्ध्यत्यलिप्तया ज्ञानी, क्रियावान् लिप्तया दृशा ॥ ६ ॥

भावार्थ : निश्चय नय से जीव कर्म से बद्ध नहीं है लेकिन व्यवहार नय से जीव कर्म से बद्ध है । ज्ञानी अलिप्त दृष्टि से और क्रियावान लिप्त दृष्टि से शुद्ध होता है ॥६॥

ज्ञानक्रियासमावेशः, सहैवोन्मीलने द्वयोः ।
भूमिकाभेदतस्त्वत्र, भवेदेकैकमुख्यता ॥ ७ ॥

भावार्थ : दोनों दृष्टियाँ एक साथ खुलने पर ज्ञान और क्रिया की एकता है । यहाँ ज्ञान क्रिया में गुणस्थान रूप अवस्था के भेद से एक-एक की मुख्यता होती है ॥७॥

सज्ञानं यदनुष्ठानं, न लिप्तं दोषपङ्कतः ।
शुद्धबुद्धस्वभावाय, तस्मै भगवते नमः ॥ ८ ॥

भावार्थ : ज्ञानसहित जिसका क्रियारूप अनुष्ठान दोषरूप कचरे से लिप्त नहीं है ऐसे और शुद्ध बुद्ध ज्ञान रूप समभाव वाले भगवन्त को नमस्कार हो ॥८॥

निःस्पृहाष्टकम्-12

स्वभावलाभात् किमपि, प्राप्तव्यं नावशिष्यते ।
इत्यात्मैश्वर्यसम्पन्नो, निःस्पृहो जायते मुनिः ॥ १ ॥

भावार्थ : आत्म स्वभाव की प्राप्ति के अलावा और कुछ भी प्राप्त करने योग्य शेष नहीं रहता, इस प्रकार के आत्म-ऐश्वर्य से सम्पन्न साधु निःस्पृह होता है ॥१॥

संयोजितकरैः के के, प्रार्थ्यन्ते न स्पृहावहैः ।
अमात्रज्ञानपात्रस्य, निःस्पृहस्य तृणं जगत् ॥ २ ॥

भावार्थ : स्पृहावान् पुरुष हाथ जोड़कर किस-किसके आगे प्रार्थना नहीं करते ? जबकि अपरिमित ज्ञान के पात्र निःस्पृह साधु के लिये सारा जगत तृण समान होता है ॥२॥

छिन्दन्ति ज्ञानदात्रेण, स्पृहाविषलतां बुधाः ।
मुखशोषं च मूर्च्छां च, दैन्यं यच्छति यत्फलम् ॥ ३ ॥

भावार्थ : मुखशोष (मुँह का सूखना), मूर्च्छा और दीनता रूप फल देने वाली लालसा रूप विषलता को अध्यात्म ज्ञानी पंडित लोग ज्ञान रूप हँासिये से काट डालते हैं ॥३॥

निष्कासनीया विदुषा, स्पृहा चित्तगृहाद् बहिः ।
अनात्मरतिचाण्डालीसङ्गमङ्गीकरोति या ॥ ४ ॥

भावार्थ : विद्वान पुरुषों के द्वारा तो मन रूप घर से तृष्णा बाहर निकालने योग्य है । जो तृष्णा से भिन्न पुद्गलों में रति रूप चांडालिनी का संग अंगीकार करती है ॥४॥

स्पृहावन्तो विलोक्यन्ते, लघवस्तृणतूलवत् ।
महाश्चर्यं तथाप्येते, मज्जन्ति भववारिधौ ॥ ५ ॥

भावार्थ : स्पृहावान् पुरुष तृण और आक की रूई के समान हल्के दिखते हैं फिर भी संसार समुद्र में डूब जाते हैं, यह आश्चर्य है ॥५॥

गौरवं पौरवन्द्यत्वात्, प्रकृष्टत्वं प्रतिष्ठया ।
ख्यातिं जातिगुणात्स्वस्य, प्रादुष्कुर्यान्न निःस्पृहः ॥ ६ ॥

भावार्थ : स्पृहारहित साधु नगरवासियों द्वारा वन्दनीय होने पर भी अपना बड़प्पन, अपनी प्रतिष्ठा, ख्याति और उत्तम जातीयता आदि गुणों से अपनी प्रसिद्धि प्रकट न करे ॥६॥

भूशय्या भैक्षमशनं, जीर्णं वासो वनं गृहम् ।
तथापि निःस्पृहस्याहो, चक्रिणोऽप्यधिकं सुखम् ॥ ७ ॥

भावार्थ : स्पृहारहित साधु के लिये पृथ्वी शय्या है, भिक्षा में जो मिला वह भोजन है, फटे पुराने वस्त्र और वनरूप घर है फिर भी आश्चर्य है कि चक्रवर्ती से भी ज्यादा उन्हें सुख है ॥७॥

परस्पृहा महादुःखं, निःस्पृहत्वं महासुखम् ।
एतदुक्तं समासेन, लक्षणं सुखदुःखयोः ॥ ८ ॥

भावार्थ : पर की आशा-लालसा करना महादुःख है और निःस्पृहत्व महासुख है, यही संक्षेप में सुख और दुःख का लक्षण कहा गया है ॥८॥

मौनाष्टकम्-13

मन्यते यो जगत्तत्त्वं, स मुनिः परिकीर्त्तितः ।
सम्यक्त्वमेव तन्मौनं, मौनं सम्यक्त्वमेव वा ॥ १ ॥

भावार्थ : जो जगत के स्वरूप को जानता है उसी को मुनि कहा जाता है इसलिए सम्यकत्व ही मुनित्व है और मुनित्व ही सम्यक्त्व है ॥१॥

आत्मात्मन्येव यच्छुद्धं, जानात्यात्मानमात्मना ।
सेयं रत्नत्रये ज्ञप्ति,-रुच्याचारैकता मुनेः ॥ २ ॥

भावार्थ : आत्मा आत्मा में ही शुद्ध आत्मा को आत्मा के द्वारा जानता है ऐसी ज्ञान, दर्शन और चरित्र रूप रत्नत्रयी में श्रद्धा और आचार की अभेद परिणति मुनि को होती है ॥२॥

चारित्रमात्मचरणात्, ज्ञानं वा दर्शनं मुनेः ।
शुद्धज्ञाननये साध्यं, क्रियालाभात् क्रियानये ॥ ३ ॥

भावार्थ : आत्मा में आचरण से चरित्र है ऐसे शुद्ध ज्ञान नय के अभिप्राय से ज्ञान और दर्शन मुनि के साध्य हैं ।

क्रिया नय के अभिप्राय से व ज्ञान के फलरूप क्रिया के लाभ से साध्य रूप है ॥३॥

यतः प्रवृत्तिर्न मणौ, लभ्यते वा न तत्फलम् ।
अतात्त्विकी मणिज्ञप्तिर्मणिश्रद्धा च सा यथा ॥ ४ ॥

भावार्थ : जिससे न तो मणि में प्रवृत्ति हो और न उस प्रवृत्ति का फल प्राप्त होता हो, ऐसे अवास्तविक मणि का ज्ञान, मणि की श्रद्धा जैसी होती है ॥४॥

तथा यतो न शुद्धात्म, स्वभावाचरणं भवेत् ।
फलं दोषनिवृत्तिर्वा, न तज्ज्ञानं न दर्शनम् ॥ ५ ॥

भावार्थ : वैसे ही जिससे शुद्ध आत्म-स्वभाव का आचरण अथवा दोष निवृत्ति रूप फल नहीं मिलता वह न तो ज्ञान है और न दर्शन है ॥५॥

यथा शोफस्य पुष्टत्वं, यथा वा वध्यमण्डनम् ।
तथा जानन् भवोन्माद, मात्मतृप्तो मुनिर्भवेत् ॥ ६ ॥

भावार्थ : जिस प्रकार सूजन आ जाने से पुष्ट हो जाने की कल्पना करे अथवा वध करने योग्य पुरुष को माला पहनाने से वह गौरव की कल्पना करे । संसार का उन्माद ऐसा ही है इसलिए ऐसे उन्माद को जानने वाले मुनि आत्मा के विषय में संतुष्ट रहते हैं ॥६॥

सुलभं वागनुच्चारं, मौनमेकेन्द्रियेष्वपि ।
पुद्गलेष्वप्रवृत्तिस्तु, योगानां मौनमुत्तमम् ॥ ७ ॥

भावार्थ : वाणी का उच्चारण नहीं करने रूप मौन एकेन्द्रियों को भी सुलभ है लेकिन पुद्गलों में मन वचन काया की अप्रवृत्ति ही श्रेष्ठ मौन कहलाता है ॥७॥

ज्योतिर्मयीव दीपस्य, क्रिया सर्वापि चिन्मयी ।
यस्यानन्यस्वभावस्य, तस्य मौनमनुत्तरम् ॥ ८ ॥

भावार्थ : जिस प्रकार दीपक की सभी क्रियाएँ (ज्योति का ऊँचा नीचा आड़ा टेढा होना) प्रकाशमय होती है उसी प्रकार अन्य स्वभाव में अपरिणत जिस आत्मा की सभी क्रियाएँ ज्ञानमय है उसका मुनित्व सर्वोत्कृष्ट है ॥८॥

विद्याष्टकम्-14

नित्यशुच्यात्मताख्याति- रनित्याशुच्यनात्मसु ।
अविद्या तत्त्वधीर्विद्या, योगाचार्यैः प्रकीर्तिता ॥ १ ॥

भावार्थ : अनित्य में नित्य की, अशुचि में शुचि की और आत्मा से भिन्न पुद्गलादि में आत्मत्व बुद्धि अविद्या कहलाती है तथा यथार्थ तत्त्व की बुद्धि विद्या कहलाती है ऐसा योगाचार्यों का कथन है ॥१॥

यः पश्येन्नित्यमात्मान, मनित्यं परसङ्गमम् ।
छलं लब्धुं न शक्नोति, तस्य मोहमलिम्लुचः ॥ २ ॥

भावार्थ : जो आत्मा को सदा नित्य देखता है और पर वस्तु के सम्बन्धों को अनित्य देखता है उसके छिद्र प्राप्त करने में मोहरूप चोर समर्थ नहीं हो सकता ॥२॥

तरङ्गतरलां लक्ष्मीमायुर्वायुवदस्थिरम् ।
अदभ्रधीरनुध्याये, दभ्रवद् भङ्गुरं वपुः ॥ ३ ॥

भावार्थ : निपुण बुद्धि वाला लक्ष्मी को समुद्री-तरंगों के समान चंचल, आयुष्य को वायु के समान अस्थिर, और शरीर को बादल के समान नश्वर विचारता है ॥३॥

शुचीन्यप्यशुचीकर्तुं, समर्थेऽशुचिसंभवे ।
देहे जलादिना शौच, भ्रमो मूढस्य दारुणः ॥ ४ ॥

भावार्थ : पवित्र पदार्थ को अपवित्र करने में समर्थ और अपवित्र पदार्थ में उत्पन्न शरीर को पानी आदि से पवित्र करने का मूढ आत्माओं का भ्रम भयंकर है ॥४॥

यः स्नात्वा समताकुण्डे, हित्वा कश्मलजं मलम् ।
पुनर्न याति मालिन्यं, सोऽन्तरात्मा परः शुचिः ॥ ५ ॥

भावार्थ : जो समतारूप कुण्ड में स्नान करके पाप से उत्पन्न मैल का त्याग कर दुबारा मलिन नहीं होता, वह अन्तरात्मा परम पवित्र है ॥५॥

आत्मबोधो नवः पाशो, देहगेहधनादिषु ।
यःक्षिप्तोऽप्यात्मना तेषु, स्वस्य बन्धाय जायते ॥ ६ ॥

भावार्थ : शरीर, घर और धन आदि में आत्मत्व की बुद्धि एक नया बंधन है। शरीर आदि में आत्मा द्वारा डाला गया यह बंधन उस आत्मा के बंध के लिये हो जाता है ॥६॥

मिथोयुक्तपदार्थाना, मसंक्रमचमत्क्रिया ।
चिन्मात्रपरिणामेन, विदुषैवानुभूयते ॥ ७ ॥

भावार्थ : परस्पर संयुक्त बने जीव-पुद्गलादि पदार्थों की भिन्नता रूप चमत्कार एक विद्वान् के द्वारा ही ज्ञान मात्र परिणाम से अनुभव किया जाता है ॥७॥

अविद्यातिमिरध्वंसे, दृशा विद्याञ्जनस्पृशा ।
पश्यन्ति परमात्मान, मात्मन्येव हि योगिनः ॥ ८ ॥

भावार्थ : अज्ञानरूप अंधकार का नाश होने पर विद्यारूप अंजन को स्पर्श करने वाली दृष्टि से योगीजन अपनी आत्मा में ही परमात्मा का दर्शन करते हैं ॥८॥

विवेकाष्टकम्-15

कर्म जीवं च संश्लिष्टं, सर्वदा क्षीरनीरवत् ।
विभिन्नीकुरुते योऽसौ, मुनिहंसो विवेकवान् ॥ १ ॥

भावार्थ : हमेशा दूध और पानी के समान मिले हुए जीव और कर्म को जो मुनि रूप हंस अलग करता है वही विवेकी है ॥१॥

देहात्माद्यविवेकोऽयं, सर्वदा सुलभो भवे ।
भवकोट्यापि तद्भेद, विवेकस्त्वतिदुर्लभः ॥ २ ॥

भावार्थ : संसार में देह और आत्मा का अभेद रूप अविवेक सर्वदा सुलभ है जबकि उसका भेद ज्ञान कोटि भवों द्वारा भी प्राप्त नहीं होता अर्थात् अति दुर्लभ है ॥२॥

शुद्धेऽपि व्योम्नि तिमिराद्, रेखाभिर्मिश्रता यथा ।
विकारैर्मिश्रता भाति, तथात्मन्यविवेकतः ॥ ३ ॥

भावार्थ : जिसप्रकार तिमिर रोग होने से स्वच्छ आकाश में भी नील पीत रेखाओं द्वारा मिश्रत्व भासित होता है उसी प्रकार आत्मा में अविवेक के कारण विकारों द्वारा मिश्रत्व भासित होता है ॥३॥

यथा योधैः कृतं युद्धं, स्वामिन्येवोपचर्यते ।
शुद्धात्मन्यविवेकेन, कर्मस्कन्धोर्जितं तथा ॥ ४ ॥

भावार्थ : सैनिकों के द्वारा युद्ध करने पर भी राजा में ही उसका आरोपण होता है वैसे ही अविवेक द्वारा कर्मस्कंध का पुण्य पाप रूप फल शुद्ध आत्मा में ही आरोपित होता है ॥४॥

इष्टकाद्यपि हि स्वर्णं, पीतोन्मत्तो यथेक्षते ।
आत्माभेदभ्रमस्तद्वद्, देहादावविवेकिनः ॥ ५ ॥

भावार्थ : धतूरे का पान करने से उन्मादी जीव जिस प्रकार ईंट आदि को भी सोना मान लेता है, उसी प्रकार अविवेकी को जड़ शरीर आदि में आत्मा के अभेद का भ्रम हो जाता है ॥५॥

इच्छन् न परमान् भावान्, विवेकाद्रेः पतत्यधः ।
परमं भावमन्विच्छन्, नाविवेके निमज्जति ॥ ६ ॥

भावार्थ : परमभाव अर्थात् आत्मा के शुद्ध गुणों को नहीं चाहने वाली आत्मा विवेक रूप पर्वत से नीचे गिर

जाती है और परमभाव को खोजने वाली आत्मा अविवेक में निमग्न नहीं बनती ॥६॥

आत्मन्येवात्मनः कुर्याद्, यः षट्कारकसंगतिम् ।
क्वाविवेकज्वरस्यास्य, वैषम्यं जडमज्जनात् ? ॥ ७ ॥

भावार्थ : जो आत्मा में ही आत्मा के छः कारकों का संबंध करता है उसे पुद्गलों में मग्न होने से, होने वाला अविवेक रूप ज्वर का वैषम्य कहाँ से होगा ? ॥७॥

संयमास्त्रं विवेकेन, शाणेनोत्तेजितं मुनेः ।
धृतिधारोल्बणं कर्म, शत्रुच्छेदक्षमं भवेत् ॥ ८ ॥

भावार्थ : विवेकरूप शाण द्वारा अत्यन्त तीक्ष्ण किया हुआ तथा धैर्य रूप धार से उग्र किया हुआ मुनि का संयमरूप शस्त्र कर्मरूप शत्रु का नाश करने में समर्थ होता है ॥८॥

माध्यस्थाष्टकम्-16

स्थीयतामनुपालम्भं, मध्यस्थेनान्तरात्मना ।
कुतर्ककर्करक्षेपैस्त्यज्यतां बालचापलम् ॥ १ ॥

भावार्थ : शुद्ध अन्तरंग परिणाम से मध्यस्थ होकर, उपालंभ न मिले इस प्रकार रहो । कुयुक्ति रूप कंकर डालने रूप बाल्यावस्था की चपलता का त्याग करो ॥१॥

मनोवत्सो युक्तिगवीं, मध्यस्थस्यानुधावति ।
तामाकर्षति पुच्छेन, तुच्छाग्रहमनः कपिः ॥ २ ॥

भावार्थ : मध्यस्थ पुरुष का मनरूप बछड़ा युक्तिरूप गाय के पीछे दौड़ता है, जबकि तुच्छ आग्रही पुरुष का मनरूप बंदर युक्तिरूप गाय को पूंछ से खींचता है ॥२॥

नयेषु स्वार्थसत्येषु, मोघेषु परचालने ।
समशीलं मनो यस्य, स मध्यस्थो महामुनिः ॥ ३ ॥

भावार्थ : अपने-अपने अर्थ में सत्य और दूसरों को मिथ्या बताने में निष्फल ऐसे सर्व नयों में जिसका मन सम स्वभाव वाला है वह महामुनि मध्यस्थ है ॥३॥

स्वस्वकर्मकृतावेशाः, स्वस्वकर्मभुजो नराः ।
न रागं नापि च द्वेषं, मध्यस्थस्तेषु गच्छति ॥ ४ ॥

भावार्थ : अपने-अपने कर्म में मनुष्य परवश बना हुआ है और अपने-अपने कर्म के फल को भोगने वाला है, ऐसा जानकर मध्यस्थ पुरुष राग और द्वेष को प्राप्त नहीं करता ॥४॥

मनः स्याद् व्यापृतं यावत्, परदोषगुणग्रहे ।
कार्यं व्यग्रं वरं तावन्, मध्यस्थेनात्मभावने ॥ ५ ॥

भावार्थ : जब तक मन दूसरों के दोष और गुण को ग्रहण करने में प्रवर्तमान हो तब तक मध्यस्थ पुरुष के लिये अपने मन को आत्मचिन्तन में जोड़ना श्रेष्ठ है ॥५॥

विभिन्ना अपि पन्थानः, समुद्रं सरितामिव ।
मध्यस्थानां परं ब्रह्म, प्राप्नुवन्त्येकमक्षयम् ॥ ६ ॥

भावार्थ : मध्यस्थ पुरुषों के अलग-अलग मार्ग एक अक्षय उत्कृष्ट परमात्म स्वरूप को उसी प्रकार प्राप्त करते हैं जिस प्रकार नदियों के अलग-अलग प्रवाह समुद्र में मिल जाते हैं ॥६॥

स्वागमं रागमात्रेण, द्वेषमात्रात् परागमम् ।
न श्रयामस्त्यजामो वा, किन्तु मध्यस्थया दृशा ॥ ७ ॥

भावार्थ : स्व आगम का स्वीकार राग के कारण नहीं करते और न द्वेष के कारण पर शास्त्र का त्याग करते हैं, बल्कि मध्यस्थ दृष्टि से ही स्वीकार अथवा त्याग किया जाता है ॥७॥

मध्यस्थया दृशा सर्वेष्वपुनर्बन्धकादिषु ।
चारिसंजीवनीचार, न्यायादाशास्महे हितम् ॥ ८ ॥

भावार्थ : हम अपुनर्बंधकादि में मध्यस्थ दृष्टि संजीवनी का चारा चराने के दृष्टान्त से सभी के कल्याण की आशा करते हैं ॥८॥

निर्भयाष्टकम्-17

यस्य नास्ति परापेक्षा, स्वभावाद्वैतगामिनः ।
तस्य किं न भयभ्रान्ति, क्लान्तिसंतानतानवम् ? ॥ १ ॥

भावार्थ : जिसे 'पर' की कोई अपेक्षा नहीं है और जो स्वभाव की एकता में अर्थात् निज भावों में रमण करने वाला

है उसे भय की भ्रांति द्वारा प्राप्त खिन्नता की परम्परा का अल्पत्व क्यों नहीं होगा ? अर्थात् उसे खिन्न होना ही नहीं पड़ेगा, क्योंकि उसे कोई भय न होगा, कोई भ्रान्ति नहीं होगी ॥१॥

भवसौख्येन किं भूरि, भयज्वलनभस्मना ? ।
सदा भयोज्झितं ज्ञान, सुखमेव विशिष्यते ॥ २ ॥

भावार्थ : ऐसे संसार के सुख से क्या लाभ ? जो अति भय रूप अग्नि से भस्म हो गया हो ! वास्तव में भयरहित ज्ञानसुख ही सच्चा सुख है ॥२॥

न गोप्यं क्वापि नारोप्यं, हेयं देयं न च क्वचित् ।
क्व भयेन मुनेः स्थेयं, ज्ञेयं ज्ञानेन पश्यतः ? ॥ ३ ॥

भावार्थ : जिसने ज्ञेय तत्त्व को अपने ज्ञान से देख लिया है, ऐसे मुनि को कहीं पर भी कोई भय नहीं है क्योंकि उसकी सम्पदा न गोपनीय है, न कहीं आरोपित करने योग्य है, न छोड़ने योग्य है, न देने योग्य है ॥३॥

एकं ब्रह्मास्त्रमादाय, निघ्नन्मोहचमूं मुनिः ।
बिभेति नैव संग्राम, शीर्षस्थ इव नागराट् ॥ ४ ॥

भावार्थ : एक ब्रह्मज्ञानरूप शस्त्र से सुसज्ज होकर मोहरूप शत्रुसेना का संहार करता हुआ संग्राम के शीर्ष पर (सबसे आगे) रहते उत्तम हाथी के समान मुनि कभी भय को प्राप्त नहीं करता ॥४॥

मयूरी ज्ञानदृष्टिश्चेत्, प्रसर्पति मनोवने ।
वेष्टनं भयसर्पाणां, न तदानन्दचन्दने ॥ ५ ॥

भावार्थ : ज्ञानदृष्टि रूपी मयूरी (मोर) जब मनरूप वन में मग्नपूर्वक विचरण करती है तब आनंद रूप चंदन वृक्ष को भय रूप सर्व वेष्टित नहीं कर सकते ॥५॥

कृतमोहास्त्रवैफल्यं, ज्ञानवर्म बिभर्ति यः ।
क्व भीस्तस्य क्व वा भङ्गः, कर्मसङ्गरकेलिषु ? ॥ ६ ॥

भावार्थ : जिसने मोहरूप अस्त्र को विफल किया है, ऐसा ज्ञानरूप बख्तर धारण करने वाले मुनि को कर्मरूप शत्रु के साथ संग्राम क्रीडा करते हुए न तो भय लगता है, और न ही वह पराजित होता है ॥६॥

तूलवल्लघवो मूढा, भ्रमन्त्यभ्रे भयानिलैः ।
नैकं रोमापि तैर्ज्ञान, गरिष्ठानां तु कम्पते ॥ ७ ॥

भावार्थ : आक की रूई के समान जो हल्के हैं ऐसे मूढ पुरुष भय रूप वायु से आकाश में घूमते हैं, परन्तु जो ज्ञान से गरिष्ठ अर्थात् भारी हैं उन महापुरुषों का एक रोम भी कंपित नहीं होता ॥७॥

चित्ते परिणतं यस्य, चारित्रमकुतोभयम् ।
अखण्डज्ञानराज्यस्य, तस्य साधोः कुतो भयम् ॥ ८ ॥

भावार्थ : जिसे किसी से भी भय नहीं, ऐसा चारित्र जिसके हृदय में है, ऐसे अखंड ज्ञान रूप राज्य वाले साधु को भय कहाँ से होगा ? ॥८॥

अनात्मप्रशंसाष्टकम्-18

गुणैर्यदि न पूर्णोऽसि, कृतमात्मप्रशंसया ।
गुणैरेवासि पूर्णश्चेत्, कृतमात्मप्रशंसया ॥ १ ॥

भावार्थ : यदि तू गुणों से पूर्ण नहीं है तो फिर क्यों अपनी प्रशंसा करता है ? यदि तू गुणों से पूर्ण है तो अपनी प्रशंसा से क्या लाभ ? ॥१॥

श्रेयोद्रुमस्य मूलानि, स्वोत्कर्षाम्भःप्रवाहतः ।
पुण्यानि प्रकटीकुर्वन्, फलं किं समवाप्स्यसि ॥ २ ॥

भावार्थ : कल्याण रूपी वृक्ष की पुण्य रूपी जड़ को तू आत्म प्रशंसा रूपी पानी के प्रवाह से उघाड़ रहा है, ऐसा करने से तुझे क्या लाभ होगा ? ॥२॥

आलम्बिता हिताय स्युः, परैः स्वगुणरश्मयः ।
अहो स्वयं गृहीतास्तु, पातयन्ति भवोदधौ ॥ ३ ॥

भावार्थ : दूसरे लोग जब तुम्हारी गुण रूपी रश्मियाँ प्राप्त करते हैं, तो इसमें उनका हित होता है, पर आश्चर्य तो यह है कि यदि उन्हीं गुणों की रश्मियों को तुम स्वयं पकड़ते हो तो भवसागर में डूबा देती हैं वे रश्मियाँ ॥३॥

उच्चत्वदृष्टिदोषोत्थ, स्वोत्कर्षज्वरशान्तिकम् ।
पूर्वपुरुषसिंहेभ्यो, भृशं नीचत्वभावनम् ॥ ४ ॥

भावार्थ : उचत्व-दृष्टि के दोष से मन में जो अभिमान रूप ज्वर पैदा हुआ है, उसकी शान्ति के लिये ऐसी भावना भानी चाहिये कि पूर्व में अनेक महापुरुष सिंह रूप हुए हैं, मैं उन सबसे न्यून अर्थात् छोटा हूँ ॥४॥

शरीररूपलावण्य, ग्रामारामधनादिभिः ।
उत्कर्षः परपर्यायैश्चिदानन्दघनस्य कः ? ॥ ५ ॥

भावार्थ : जो ज्ञानानंद से भरपूर है वह शरीर के रूप लावण्य, गाँव, बगीचा, धन आदि पर-पर्यायों का अभिमान क्या करेगा ? ॥५॥

शुद्धाः प्रत्यात्मसाम्येन, पर्यायाः परिभाविताः ।
अशुद्धाश्चापकृष्टत्वान्, नोत्कर्षाय महामुनेः ॥ ६ ॥

भावार्थ : शुद्ध नय की दृष्टि से हर आत्मा के शुद्ध पर्याय एक समान हैं । और, अशुद्ध विभाव पर्याय निकृष्ट अर्थात् तुच्छ होने से उनके कारण 'महामुनि' अभिमान नहीं करते ॥६॥

क्षोभं गच्छन् समुद्रोऽपि, स्वोत्कर्षपवनेरितः ।
गुणौघान् बुद्बुदीकृत्य, विनाशयसि किं मुधा ? ॥ ७ ॥

भावार्थ : मर्यादा युक्त होने पर भी कभी-कभी पवन के कारण समुद्र में भी ज्वार भाटे आते हैं । उसी प्रकार तू अपने आत्म गुणों का व्यर्थ में विनाश क्यों करता है ॥७॥

निरपेक्षानवच्छिन्नाऽनन्तचिन्मात्रमूर्तयः ।
योगिनो गलितोत्कर्षाऽपकर्षानल्पकल्पनाः ॥ ८ ॥

भावार्थ : जिनका स्वरूप निरपेक्ष से युक्त अर्थात् अपेक्षा रहित ज्ञानमय है और उत्कर्ष तथा अपकर्ष की कल्पनाएँ जिनकी गल गई हैं अर्थात् समाप्त हो गई हैं, योगी ऐसे होते हैं ॥८॥

तत्त्वदृष्ट्यष्टकम्-19

रूपे रूपवती दृष्टि, दृष्ट्वा रूपं विमुह्यति ।
मज्जत्यात्मनि नीरूपे, तत्त्वदृष्टिस्त्वरूपिणी ॥ १ ॥

भावार्थ : रूपवती दृष्टि रूप को देखकर रूप में मोहित होती है जबकि रूपरहित तत्त्व दृष्टि तो रूपरहित आत्मा में मग्न होती है ॥१॥

भ्रमवाटी बहिर्दृष्टिर्भ्रमच्छाया तदीक्षणम् ।
अभ्रान्तस्तत्त्वदृष्टिस्तु, नास्यां शेते सुखाशया ॥ २ ॥

भावार्थ : बाह्य दृष्टि तो भ्रम की वाटिका है । बाह्य दृष्टि का प्रकाश भ्रान्ति की छाया है । परन्तु, भ्रान्ति रहित तत्त्वदृष्टि वाला साधक भ्रम की छाया में सुख की इच्छा से कभी शयन नहीं करता ॥२॥

ग्रामारामादि मोहाय, यद् दृष्टं बाह्यया दृशा ।
तत्त्व द्रृष्ट्या तदेवान्त, र्नीतं वैराग्यसंपदे ॥ ३ ॥

भावार्थ : बाह्य दृष्टि से देखे जाने वाले ग्राम-बगीचे आदि मोह के निमित्त बनते हैं। जबकि तत्त्व दृष्टि से देखने पर वे ही (ग्राम-बगीचे आदि) आत्मा में वैराग्य सम्पदा का आधार बन जाते हैं ॥३॥

बाह्यदृष्टेः सुधासार, घटिता भाति सुन्दरी ।
तत्त्वदृष्टेस्तु सा साक्षाद्, विण्मूत्रपिठरोदरी ॥ ४ ॥

भावार्थ : बाह्य दृष्टि से देखने पर 'स्त्री' अमृतधार से युक्त सौन्दर्यवती दिखाई देती है। जबकि तत्त्वदृष्टि वाले को वही स्त्री प्रत्यक्ष विष्ठा और मूत्र के घर के समान उदर वाली लगती है ॥४॥

लावण्यलहरीपुण्यं, वपुः पश्यति बाह्यदृग् ।
तत्त्वदृष्टिः श्वकाकानां, भक्ष्यं कृमिकुलाकुलम् ॥ ५ ॥

भावार्थ : 'बाह्यदृष्टि' सौन्दर्य के तरंगों से पवित्र शरीर देखता है, जबकि तत्त्व-दृष्टि कौओं तथा कुत्तों के खाने योग्य कृमि-समूह से भरा हुआ देखता है ॥५॥

गजाश्वैर्भूपभवनं, विस्मयाय बहिर्दृशः ।
तत्राश्वेभवनात्कोऽपि, भेदस्तत्त्वदृशस्तु न ॥ ६ ॥

भावार्थ : बाह्य दृष्टि गज, अश्व सहित राजमहल को देखकर (मुग्ध होकर) विस्मय प्राप्त करता है, जबकि

तत्त्वदृष्टि को तो राजमहल में या हाथी अश्व संयुत वन में कोई अन्तर नहीं दिखाई देता ॥६॥

भस्मना केशलोचेन, वपुर्धृतमलेन वा ।
महान्तं बाह्यदृग्वेत्ति, चित्साम्राज्येन तत्त्ववित् ॥ ७ ॥

भावार्थ : बाह्यदृष्टि व्यक्ति उसे महात्मा समझता है जो भस्म लगाता है, केश-लुंचन करता है और शरीर पर मैल धारण करता है । जबकि 'तत्त्वदृष्टि व्यक्ति' महात्मा की पहचान ज्ञान की प्रभुता से करता है ॥७॥

न विकाराय विश्वस्यो, पकारायैव निर्मिताः ।
स्फुरत्कारुण्यपीयूष, वृष्टयस्तत्त्वदृष्टयः ॥ ८ ॥

भावार्थ : अत्यन्त स्फुरित करुणारूप अमृत वर्षा करने वाले तत्त्व दृष्टि महापुरुषों का जन्म विकार हेतु नहीं अपितु विश्व पर उपकार के लिये होता है ॥८॥

सर्वसमृद्धाष्टकम्-20

बाह्यदृष्टिप्रचारेषु, मुद्रितेषु महात्मनः ।
अन्तरेवावभासन्ते, स्फुटाःसर्वाःसमृद्धयः ॥ १ ॥

भावार्थ : बाह्य दृष्टि की प्रवृत्ति बंद होने पर महापुरुष अपने अन्तर में ही रम रही सर्व समृद्धियों का आभास अर्थात् बोध करते हैं ॥१॥

समाधिर्नन्दनं धैर्यं, दम्भोलिः समता शची ।
ज्ञानं महाविमानं च, वासवश्रीरियं मुनेः ॥ २ ॥

भावार्थ : 'मुनि' इन्द्र के समान समृद्धि वाले हैं। समाधि रूप नन्दनवन, धैर्यरूप वज्र, समतारूप इन्द्राणी और ज्ञानरूप महाविमान मुनि के पास हैं ॥२॥

विस्तारितक्रियाज्ञान, चर्मच्छत्रो निवारयन् ।
मोहम्लेच्छमहावृष्टिं, चक्रवर्ती न किं मुनिः ? ॥ ३ ॥

भावार्थ : क्रिया और ज्ञान रूप चर्मरत्न और छत्र-रत्न के विस्तार से मोहरूप म्लेच्छो द्वारा की गई महावृष्टि को रोकने वाले ये मुनि क्या चक्रवर्ती नहीं ? ॥३॥

नवब्रह्मसुधाकुण्ड, निष्ठाधिष्ठायको मुनिः ।
नागलोकेशवद् भाति, क्षमां रक्षन् प्रयत्नतः ॥ ४ ॥

भावार्थ : नव प्रकार के ब्रह्मचर्यरूप अमृत कुंड की निष्ठा के सामर्थ्य से तथा प्रयत्नपूर्वक क्षमा की साधना करते हुए ये महामुनि नागलोक के स्वामी की तरह सुशोभित होते हैं ॥४॥

मुनिरध्यात्मकैलाशे, विवेकवृषभस्थितः ।
शोभते विरतिज्ञप्ति, गङ्गागौरीयुतः शिवः ॥ ५ ॥

भावार्थ : अध्यात्मरूप कैलाश पर्वत पर, विवेक रूप वृषभ पर विराजमान, चारित्र और ज्ञानरूप क्रमशः गंगा और पार्वती सहित महादेव की तरह 'मुनिराज' शोभा प्राप्त करते हैं ॥५॥

ज्ञानदर्शनचन्द्रार्क, नेत्रस्य नरकच्छिदः ।
सुखसागरमग्नस्य, किं न्यूनं योगिनो हरेः ? ॥ ६ ॥

भावार्थ : ज्ञान और दर्शन रूप सूर्य तथा चन्द्र जिनके नेत्र हैं। नरक गति रूप नरकासुर का नाश करने वाले, सुख रूप समुद्र में मग्न रहते हुए 'मुनिराज' श्रीकृष्ण से क्या कम हैं ? ॥६॥

या सृष्टिर्ब्रह्मणो बाह्या, बाह्यापेक्षावलम्बिनी ।
मुनेः परानपेक्षाऽन्तर्गुणसृष्टिस्ततोऽधिका ॥ ७ ॥

भावार्थ : ब्रह्मा की सृष्टि तो बाह्य जगत रूप है और बाह्य की अपेक्षा पर अवलम्बित है, जबकि मुनि की अन्तरंग गुणसृष्टि तो अन्यों की अपेक्षा रहित है, अतः यह अधिक अर्थात् उत्कृष्ट है ॥७॥

रत्नैस्त्रिभिः पवित्रा या, स्रोतोभिरिव जाह्नवी ।
सिद्धयोगस्य साप्यर्हत्, पदवी न दवीयसी ॥ ८ ॥

भावार्थ : जिस प्रकार तीन प्रवाहों से पवित्र गंगा है, उसी प्रकार तीन रत्नों (ज्ञान, दर्शन, चारित्र) से युक्त तीर्थंकर पद भी परम निर्मल है। यह पद भी सिद्ध योगी मुनि के लिये दूर नहीं है ॥८॥

कर्मविपाकचिंतनाष्टकम्-21

दुःखं प्राप्य न दीनः स्यात्, सुखं प्राप्य च विस्मितः ।
मुनिः कर्मविपाकस्य, जानन् परवशं जगत् ॥ १ ॥

भावार्थ : कर्मविपाक वश पराधीन बने इस जगत को जानते हुए साधु दुःख पाने पर दीन नहीं बनते व सुख पाने पर विस्मित नहीं होते ॥१॥

येषां भ्रूभङ्गमात्रेण, भज्यन्ते पर्वता अपि ।
तैरहो कर्मवैषम्ये, भूपैर्भिक्षापि नाप्यते ॥ २ ॥

भावार्थ : जिनकी भृकुटी चढ़ने मात्र से पर्वत भी टूट जाते हैं, ऐसे बलवान् राजा भी जब कर्म की विषमता होने पर भीख मांगने पर मजबूर हो जाते हैं—उन्हें भीख भी नहीं मिलती । ये कैसा आश्चर्य है ? ॥२॥

जातिचातुर्यहीनोऽपि, कर्मण्यभ्युदयावहे ।
क्षणाद्रंकोऽपिराजा स्याच्छत्रच्छन्नदिगन्तरः ॥ ३ ॥

भावार्थ : अभ्युदय करने वाले कर्म का उदय होने पर जातिहीन, चातुर्यहीन और रंक होने पर भी क्षण भर में समस्त दिशाओं को छत्र से अविच्छिन्न करने वाला राजा बन जाता है ॥३॥

विषमा कर्मणः सृष्टिर्दृष्टा करभपृष्ठवत् ।
जात्यादिभूतिवैषम्यात्, का रतिस्तत्र योगिनः ? ॥ ४ ॥

भावार्थ : कर्म की यह सृष्टि ऊंट की पीठ के समान विषम है । (अर्थात् समानता का अभाव है) जाति आदि उत्पत्ति के वैषम्य से भरी इस सृष्टि में योगी को क्या प्रीति हो सकती है ? ॥४॥

आरूढाः प्रशमश्रेणिं, श्रुतकेवलिनोऽपि च ।
भ्राम्यन्तेऽनन्तसंसारमहो दुष्टेन कर्मणा ॥ ५ ॥

भावार्थ : उपशम श्रेणी चढ़ने वाले तथा श्रुतकेवली भी दुष्ट कर्म वश अनन्त संसार में भटक जाते हैं । इससे बड़ा आश्चर्य क्या ? ॥५॥

अर्वाक् सर्वापि सामग्री, श्रान्तेव परितिष्ठति ।
विपाकः कर्मणः कार्य, पर्यन्तमनुधावति ॥ ६ ॥

भावार्थ : पास पड़ी अन्य सभी सामग्री (कारण) थके हारे की तरह पड़ी रहती है जबकि कर्म का विपाक कार्य के अन्त तक पीछे दौड़ता रहता है ॥६॥

असावचरमावर्ते, धर्मं हरति पश्यतः ।
चरमावर्तिसाधोस्तु, छलमन्विष्य हृष्यति ॥ ७ ॥

भावार्थ : यह कर्मविपाक (अंतिम पुद्गल परावर्त को छोड़कर) अन्य पुद्गल परावर्त में देखते-देखते धर्म को हर लेता है और चरम पुद्गल परावर्त में रमण करने वाले साधुजनों के भी छिद्र देखकर प्रसन्न होता है ॥७॥

साम्यं बिभर्ति यः कर्म- विपाकं हृदि चिन्तयन् ।
स एव स्याच्चिदानन्द, मकरन्दमधुव्रतः ॥ ८ ॥

भावार्थ : हृदय में कर्मविपाक का चिन्तन करता हुआ जो समभाव धारण कर लेता है, वही योगी ज्ञानानन्द रूप पराग को भ्रमरवत् भोग करता है ॥८॥

भवोद्वेगाष्टकम्–22

यस्य गम्भीरमध्यस्या, ज्ञानवज्रमयं तलम् ।
रुद्धा व्यसनशैलौघैः, पन्थानो यत्र दुर्गमाः ॥ १ ॥

भावार्थ : इस संसार रूपी समुद्र का मध्यभाग बड़ा गम्भीर है, अज्ञान रूपी वज्र से बना इसका तल–प्रदेश है । इसमें संकट रूपी पर्वतों के समूह से अविरुद्ध अनेक दुर्गम मार्ग हैं ॥१॥

पातालकलशा यत्र, भृतास्तृष्णामहानिलैः ।
कषायाश्चित्तसंकल्प, वेलावृद्धिं वितन्वते ॥ २ ॥

भावार्थ : जहाँ तृष्णारूप महावायु से भरे पाताल कलश रूप चारों कषाय (क्रोधादि) मन के संकल्परूप तरंगों का विस्तार है ॥२॥

स्मरौर्वाग्निर्ज्वलत्यन्तर्यत्र स्नेहेन्धनः सदा ।
यो घोररोगशोकादि मत्स्यकच्छपसंकुलः ॥ ३ ॥

भावार्थ : जिसके मध्य में हमेशा स्नेहरूप ईंधन से युक्त काम रूप दावानल जलता रहता है । जो भयंकर रोग शोकादि रूप मछलियों/कछुओं से भरा हुआ है ॥३॥

दुर्बुद्धिमत्सरद्रोहै– र्विद्युद्दुर्वातगर्जितैः ।
यत्र सांयात्रिका लोकाः, पतन्त्युत्पातसंकटे ॥ ४ ॥

भावार्थ : जहाँ दुर्बुद्धि, मत्सर द्रोह रूप बिजलियाँ चमकती हैं, भयंकर तूफान चलता है, गर्जना होती है और इस कारण समुद्र में सफर करने वाले लोग तूफान रूप संकट में फँस जाते हैं ॥४॥

ज्ञानी तस्माद् भवाम्भोधेर्नित्योद्विग्नोऽतिदारुणात् ।
तस्य संतरणोपायं, सर्वयत्नेनकाङ्क्षति ॥ ५ ॥

भावार्थ : ऐसे भयंकर संसारसमुद्र से उद्विग्न बने ज्ञानी पुरुष हमेशा पूर्ण प्रयत्न से ऐसे सागर को तैरने की इच्छा रखते हैं ॥५॥

तैलपात्रधरो यद्वद्, राधावेधोद्यतो यथा ।
क्रियास्वनन्यचित्तः स्याद्, भवभीतस्तथा मुनिः ॥ ६ ॥

भावार्थ : जिस प्रकार तेल के पात्र को धारण करने वाला, राधावेध साधने के लिये तत्पर बना हुआ व्यक्ति अपनी-अपनी क्रिया में अनन्य चित्त वाला अर्थात् पूर्ण एकाग्र चित्त हो जाता है, उसी प्रकार संसार से भय प्राप्त साधु चारित्र क्रिया में पूर्ण एकाग्र चित्त हो जाता है ॥६॥

विषं विषस्य वह्नेश्च, वह्निरेव यदौषधम् ।
तत्सत्यं भवभीतानामुपसर्गेऽपि यन्न भीः ॥ ७ ॥

भावार्थ : विष ही विष का तथा अग्नि ही अग्नि का औषध बनता है, यह सत्य है । उसी प्रकार संसार से

भयभीत बनी हुई आत्मा को उपसर्ग प्राप्त होने पर भी कोई भय नहीं होता ॥७॥

स्थैर्यं भवभयादेव, व्यवहारे मुनिर्व्रजेत् ।
स्वात्मारामसमाधौ तु, तदप्यन्तर्निमज्जति ॥ ८ ॥

भावार्थ : व्यवहार नय से संसार के भय से ही साधु स्थिर बनता है । परन्तु, अपनी आत्मा की रति रूप समाधि में लीन होने पर वह भय भी अंदर समाप्त हो जाता है ॥८॥

लोक-संज्ञा-त्यागाष्टकम्-23

प्राप्तः षष्ठं गुणस्थानं, भवदुर्गाद्रिलङ्घनम् ।
लोकसंज्ञारतो न स्यान्मुनिर्लोकोत्तरस्थितिः ॥ १ ॥

भावार्थ : संसाररूप विषम पर्वत को लांघने रूप छठे गुणस्थानक को प्राप्त, लोकोत्तर मार्ग स्थित साधु लोकसंज्ञा में रत अर्थात् प्रीति वाला नहीं होता ॥१॥

यथा चिन्तामणिं दत्ते, बठरो बदरीफलैः ।
हहा ! जहाति सद्धर्मं, तथैव जनरञ्जनैः ॥ २ ॥

भावार्थ : मूर्ख व्यक्ति जिसप्रकार रत्न देकर बदले में बोर लेता है, वैसे ही मूढ़ व्यक्ति लोकरंजन के लिये सद्धर्म का त्याग कर देता है ॥२॥

लोकसंज्ञामहानद्या, मनुस्रोतोऽनुगा न के ? ।
प्रतिस्रोतोऽनुगस्त्वेको, राजहंसो महामुनिः ॥ ३ ॥

भावार्थ : लोकसंज्ञा रूप विशाल नदी में लोक प्रवाह का अनुसरण करने वाले कौन नहीं हैं ? जबकि प्रवाह के सामने चलने वाले राजहंस जैसे तो महामुनीश्वर एक ही हैं ॥३॥

लोकमालम्ब्य कर्तव्यं, कृतं बहुभिरेव चेत् ।
तदा मिथ्यादृशां धर्मो, न त्याज्यः स्यात् कदाचन ॥ ४ ॥

भावार्थ : लोक का आलंबन लेकर यदि अधिक मनुष्यों द्वारा किया गया काम ही योग्य हो तब तो मिथ्यादृष्टि लोकों का धर्म भी त्याज्य नहीं माना जा सकता ॥४॥

श्रेयोऽर्थिनो हि भूयांसो, लोके लोकोत्तरे न च ।
स्तोका हि रत्नवणिजः, स्तोकाश्च स्वात्मसाधकाः ॥ ५ ॥

भावार्थ : निश्चित ही लोक में/लोकोत्तर में मोक्ष के अभिलाषी थोड़े ही हैं । जिस प्रकार रत्नों के व्यापारी थोड़े ही होते हैं उसी प्रकार अपनी आत्मा की साधना करने वाले भी थोड़े ही होते हैं ॥५॥

लोकसंज्ञाहता हन्त !, नीचैर्गमनदर्शनैः ।
शंसयन्ति स्वसत्याङ्गमर्मघातमहाव्यथाम् ॥ ६ ॥

भावार्थ : लोक संज्ञा से आहत हुए लोगों के धीरे चलने से व नीचे देखने से अपने सत्यव्रत रूप अंग में मर्म प्रहार की महाव्यथा प्रकट होती है ॥६॥

आत्मसाक्षिकसद्धर्म, सिद्धौ किं लोकयात्रया ।
तत्र प्रसन्नचन्द्रश्च, भरतश्च निदर्शनं ॥ ७ ॥

भावार्थ : प्रसन्नचंद्र राजर्षि व भरत महाराजा के दृष्टांत से यह स्पष्ट है कि आत्मसाक्षी से युक्त सत्य धर्म की सिद्धि अर्थात् प्राप्ति होने के बाद लोक व्यवहार का क्या काम है ? ॥७॥

लोकसंज्ञोज्झितः साधुः, परब्रह्मसमाधिमान् ।
सुखमास्ते गतद्रोह, ममतामत्सरज्वरः ॥ ८ ॥

भावार्थ : लोकसंज्ञा से रहित, पर ब्रह्म में समाधिरत, द्रोह, ममता, मत्सर (गुण–द्वेष) रूप ज्वर नाश कर दिया है, जिन्होंने, ऐसे साधु सुख में रहते हैं ॥८॥

शास्त्राष्टकम्–24

चर्मचक्षुर्भृतः सर्वे, देवाश्चावधिचक्षुषः ।
सर्वतश्चक्षुषः सिद्धाः, साधवः शास्त्रचक्षुषः ॥ १ ॥

भावार्थ : सभी मनुष्य चर्मचक्षु के धारक हैं, देव अवधिज्ञानरूप चक्षु के धारक हैं, सिद्ध सर्व आत्म प्रदेशों के केवलज्ञान–केवलदर्शन रूप चक्षु वाले हैं, जबकि साधुओं के पास तो शास्त्ररूप चक्षु होते हैं ॥१॥

पुरःस्थितानिवोर्ध्वाधस्तिर्यग्लोकविवर्त्तिनः ।
सर्वान् भावानवेक्षन्ते, ज्ञानिनः शास्त्रचक्षुषा ॥ २ ॥

भावार्थ : ज्ञानीपुरुष शास्त्ररूप चक्षु से ऊर्ध्व, अधो व तिर्यक् लोक् में परिणमित हो रहे सभी भावों को प्रत्यक्ष देखते हैं ॥२॥

शासनात्त्राणशक्तेश्च, बुधैः शास्त्रं निरुच्यते ।
वचनं वीतरागस्य, तत्तु नान्यस्य कस्यचित् ॥ ३ ॥

भावार्थ : 'हितोपदेश व रक्षा का सामर्थ्य' ऐसी 'शास्त्र' शब्द की व्युत्पत्ति पंडितजन करते हैं । (वास्तव में) वीतराग के वचन ही शास्त्र हैं, किसी अन्य के नहीं ॥३॥

शास्त्रे पुरस्कृते तस्माद्, वीतरागः पुरस्कृतः ।
पुरस्कृते पुनस्तस्मिन्, नियमात् सर्वसिद्धयः ॥ ४ ॥

भावार्थ : शास्त्र को पुरस्कृत किया अर्थात् वीतराग को पुरस्कृत किया । वीतराग को स्वीकार किया अर्थात् शास्त्र को स्वीकार किया । इसका अर्थ है—शास्त्र वीतराग ही है और वीतराग ही शास्त्र है । इस प्रकार नियम से सर्वसिद्धि होती है ॥४॥

अदृष्टार्थेऽनुधावन्तः, शास्त्रदीपं विना जडाः ।
प्राप्नुवन्ति परं खेदं, प्रस्खलन्तः पदेपदे ॥ ५ ॥

भावार्थ : शास्त्ररूप दीपक के अभाव में अदृष्ट (परोक्ष) अर्थ में पीछे दौड़ते हुए मूढ़ मनुष्य दर-दर पग-पग पर ठोकरें खाते हैं और खिन्न होते हैं ॥५॥

शुद्धोञ्छाद्यपि शास्त्राज्ञा, निरपेक्षस्य नो हितम् ।
भौतहन्तुर्यथा तस्य, पदस्पर्शनिवारणम् ॥ ६ ॥

भावार्थ : शास्त्र की आज्ञा से रहित स्वच्छंद मति शुद्ध गोचरी वगैरह बाह्य क्रिया करता है, पर वह हितकारक नहीं है । जैसे (राजा का) भौतमति के मारक को ऐसा आदेश देना–"भौतमति के पाँव का स्पर्श मत करना" ॥६॥

अज्ञानाहिमहामन्त्रं, स्वाच्छन्द्यज्वरलङ्घनम् ।
धर्मारामसुधाकुल्यां, शास्त्रमाहुर्महर्षयः ॥ ७ ॥

भावार्थ : ये शास्त्र अज्ञान रूपी सर्प का जहर उतारने में महामंत्र समान हैं । स्वच्छन्दता रूपी ज्वर का नाश करने में उपवास के समान हैं । धर्म रूपी बगीचे में अमृत की क्यारी समान हैं । ऐसा ऋषियों का कथन है ॥७॥

शास्त्रोक्ताचारकर्ता च, शास्त्रज्ञः शास्त्रदेशकः ।
शास्त्रैकदृग्महायोगी, प्राप्नोति परमं पदम् ॥ ८ ॥

भावार्थ : शास्त्रनिर्दिष्ट आचार का पालन करने वाला, शास्त्रज्ञ, शास्त्र का उपदेश करने वाला, तथा शास्त्र में एक दृष्टि रखने वाला महान् योगी परमपद को प्राप्त करता है ॥८॥

परिग्रह–त्यागाष्टकम्–25

न परावर्तते राशेर्वक्रतां जातु नोज्झति ।
परिग्रहग्रहः कोऽयं, विडम्बितजगत्त्रय ? ॥ १ ॥

भावार्थ : जो राशि से पीछे नहीं हटता, अपनी वक्रता कभी छोड़ता नहीं, जिसने तीनों जगत को विडम्बना दी है, ऐसा परिग्रहरूप ग्रह और कौन-सा है ? ॥१॥

परिग्रहग्रहाऽऽवेशाद्, दुर्भाषितरजःकिराम् ।
श्रूयन्ते विकृताः किं न, प्रलापा लिङ्गिनामपि ? ॥ २ ॥

भावार्थ : परिग्रहरूप ग्रह के प्रवेश से उत्सूत्र भाषण रूप धूल उड़ाते हुए वेषधारियों का विकृत प्रलाप क्या सुनने में नहीं आता ? ॥२॥

यस्त्यक्त्वा तृणवद् बाह्यमान्तरं च परिग्रहम् ।
उदास्ते तत्पदाम्भोजं, पर्युपास्ते जगत्त्रयी ॥ ३ ॥

भावार्थ : जो बाह्य-आभ्यन्तर परिग्रह को तृण समान छोड़कर उदासीन रहता है उसके चरणकमल को तीनों जगत पूजता है ॥३॥

चित्तेऽन्तर्ग्रन्थगहने, बहिर्निर्ग्रन्थता वृथा ।
त्यागात् कञ्चुकमात्रस्य, भुजगो नहि निर्विषः ॥ ४ ॥

भावार्थ : यदि अन्तरंग परिग्रह से मन व्याकुल है तो बाह्य निर्ग्रन्थत्व व्यर्थ है । मात्र कांचुली छोड़ देने से सर्प विषरहित नहीं बन जाता ॥४॥

त्यक्ते परिग्रहे साधोः, प्रयाति सकलं रजः ।
पालित्यागे क्षणादेव, सरसः सलिलं यथा ॥ ५ ॥

भावार्थ : परिग्रह का त्याग करने से साधु का पाप रूपी मैल क्षण में ही नष्ट हो जाता है। जिस प्रकार पाल टूटने से तालाब का पानी बह जाता है ॥५॥

त्यक्तपुत्रकलत्रस्य, मूर्च्छामुक्तस्य योगिनः ।
चिन्मात्रप्रतिबद्धस्य, का पुद्गलनियन्त्रणा ? ॥ ६ ॥

भावार्थ : जिसने पुत्र-पत्नी का त्याग किया है, जो ममत्व से रहित है, और ज्ञान मात्र में आसक्त है, ऐसे योगी को पुद्गल का बंधन क्या होगा ? ॥६॥

चिन्मात्रदीपको गच्छेद्, निर्वातस्थानसन्निभैः ।
निष्परिग्रहतास्थैर्यं, धर्मोपकरणैरपि ॥ ७ ॥

भावार्थ : 'पवनरहित स्थान' रूप धर्म के उपकरणों से ज्ञान मात्र दीपक रूप (मुनि) परिग्रह त्यागरूप स्थिरता को प्राप्त करता है ॥७॥

मूर्च्छाच्छन्नधियां सर्वं, जगदेव परिग्रहः ।
मूर्च्छया रहितानां तु, जगदेवापरिग्रहः ॥ ८ ॥

भावार्थ : मूर्च्छा से जिसकी बुद्धि आच्छादित है, उनके लिये सर्व जगत् ही परिग्रह है। मूर्च्छारहित व्यक्तियों के लिये तो संसार ही अपरिग्रह रूप है ॥८॥

अनुभवाष्टकम्-26

सन्ध्येव दिनरात्रिभ्यां, केवलश्रुतयोः पृथक् ।
बुधैरनुभवो दृष्टः, केवलार्कारुणोदयः ॥ १ ॥

भावार्थ : जिस प्रकार दिन और रात में संध्या अलग है, उसी प्रकार केवलज्ञान और श्रुतज्ञान से भिन्न अनुभव केवलज्ञानरूप सूर्य के अरुणोदय के समान ज्ञानियों ने देखा है ॥१॥

व्यापारः सर्वशास्त्राणां, दिक्प्रदर्शनमेव हि ।
पारं तु प्रापयत्येकोऽनुभवो भववारिधेः ॥ २ ॥

भावार्थ : निश्चय ही सभी शास्त्रों का कार्य दिशा दिखाना ही है, लेकिन संसार समुद्र से पार लगाने वाला तो एक अनुभव ही है ॥२॥

अतीन्द्रियं परं ब्रह्म, विशुद्धानुभवं विना ।
शास्त्रयुक्तिशतेनापि, न गम्यं यद् बुधा जगुः ॥ ३ ॥

भावार्थ : इन्द्रियों द्वारा अगोचर ऐसा परमात्मा का स्वरूप शास्त्रों की सैकड़ों युक्तियों द्वारा भी नहीं जाना जा सकता, उसे मात्र अनुभव से ही जाना जा सकता है ऐसा पंडित कहते हैं ॥३॥

ज्ञायेरन् हेतुवादेन, पदार्था यद्यतीन्द्रियाः ।
कालेनैतावता प्राज्ञैः, कृतः स्यात्तेषु निश्चयः ॥ ४ ॥

भावार्थ : यदि युक्तियों द्वारा अतीन्द्रिय पदार्थों का बोध संभव होता तो इतने समय में पंडितों ने उन अतीन्द्रिय पदार्थों के विषय में निश्चय कर लिया होता ॥४॥

केषां न कल्पनादर्वी, शास्त्रक्षीरान्नगाहिनी ।
विरलास्तद्रसास्वादविदोऽनुभवजिह्वया ॥ ५ ॥

भावार्थ : किसका कल्पनारूप चम्मच शास्त्र रूपी खीर में प्रविष्ट नहीं होता ? लेकिन अनुभवरूप जिह्वा के द्वारा शास्त्र के आस्वाद को जानने वाले तो विरले ही होते हैं ॥५॥

पश्यतु ब्रह्म निर्द्वन्द्वं, निर्द्वन्द्वानुभवं विना ।
कथं लिपिमयी दृष्टिर्वाङ्मयी वा मनोमयी ॥ ६ ॥

भावार्थ : राग द्वेषादि क्लेशरहित शुद्ध अनुभव ज्ञान के बिना मात्र शास्त्र दृष्टि, वाणी रूप दृष्टि अथवा मनन रूप दृष्टि उस निर्द्वन्द्व राग द्वेष रहित आत्मा को कैसे देख सकती है ॥६॥

न सुषुप्तिरमोहत्वाद्, नापि च स्वापजागरौ ।
कल्पनाशिल्पविश्रान्ते, स्तुर्यैवानुभवो दशा ॥ ७ ॥

भावार्थ : यह अनुभव मोहरहित होने से निद्रारूप सुषुप्ति दशा नहीं है, कल्पना रूप कला का भी इसमें अभाव होने से स्वप्न अथवा जागृत दशा भी नहीं हैं । यह तो चौथी दशा ही है ॥७॥

अधिगत्याखिलं शब्दब्रह्मशास्त्रदृशा मुनिः ।
स्वसंवेद्यं परं ब्रह्मा, नुभवेनाधिगच्छति ॥ ८ ॥

भावार्थ : मुनि शास्त्र दृष्टि से सकल शब्द ब्रह्म को जानकर अनुभव के द्वारा स्वयं प्रकाश ऐसे परम ब्रह्म अर्थात् परमात्मा स्वरूप को जानता है ॥८॥

योगाष्टकम्–27

मोक्षेण योजनाद्योगः, सर्वोऽप्याचार इष्यते ।
विशिष्य स्थानवर्णार्थालम्बनैकाग्र्यगोचरः ॥ १ ॥

भावार्थ : मोक्ष के साथ आत्मा को जोड़ने से सभी प्रकार का आचार योग कहलाता है । विशेष रूप से स्थान (आसन आदि), वर्ण, अर्थज्ञान, आलम्बन और एकाग्रता (योग के प्रकार) हैं ॥१॥

कर्मयोगद्वयं तत्र, ज्ञानयोगत्रयं विदुः ।
विरतेष्वेव नियमाद्, बीजमात्रं परेष्वपि ॥ २ ॥

भावार्थ : उसमें दो कर्मयोग (क्रिया रूप) और तीन ज्ञान योग (ज्ञान स्वरूप) हैं । ये योग नियमतः विरतिवान् में अवश्श्यक होते हैं, अन्यों में भी बीजरूप होते हैं ॥२॥

कृपानिर्वेदसंवेग, प्रशमोत्पत्तिकारिणः ।
भेदाः प्रत्येकमत्रेच्छा, प्रवृत्तिस्थिरसिद्धयः ॥ ३ ॥

भावार्थ : प्रत्येक योग की इच्छा, प्रवृत्ति स्थिरता और सिद्धि इस प्रकार चार–चार भेद होते हैं । ये कृपा, निर्वेद, संवेग और प्रशम को उत्पन्न करने वाले होते हैं ॥३॥

इच्छा तद्वत्कथाप्रीतिः, प्रवृत्तिः पालनं परम् ।
स्थैर्यं बाधकभीहानिः, सिद्धिरन्यार्थसाधनम् ॥ ४ ॥

भावार्थ : योगी की कथा में प्रीति होना यह इच्छा योग कहलाता है उपयोग पूर्वक पालन करना यह प्रवृत्ति योग, अतिचार के भयों का त्याग स्थिरतायोग और अन्यों के अर्थ का साधन करना यह सिद्धयोग कहलाता है ॥४॥

अर्थालम्बनयोश्चैत्य, वन्दनादौ विभावनम् ।
श्रेयसे योगिनः स्थान, वर्णयोर्यत्न एव च ॥ ५ ॥

भावार्थ : चैत्यवंदन आदि क्रियाओं में अर्थ और आलम्बन का स्मरण करना तथा स्थान और वर्ण में उद्यम करना यही योगियों के लिये कल्याणकर है ॥५॥

आलम्बनमिह ज्ञेयं, द्विविधं रूप्यरूपि च ।
अरूपिगुणसायुज्य, योगोऽनालम्बनः परः ॥ ६ ॥

भावार्थ : रूपी और अरूपी ये आलम्बन के दो प्रकार हैं, उनमें अरूपी सिद्ध के स्वरूप के साथ तन्मयता रूप योग उत्कृष्ट अनालम्बन योग है ॥६॥

प्रीतिभक्तिवचोऽसङ्गैः, स्थानाद्यपि चतुर्विधम् ।
तस्मादयोगयोगाप्तेर्मोक्षयोगः क्रमाद् भवेत् ॥ ७ ॥

भावार्थ : प्रीति, भक्ति, वचन तथा असंग अनुष्ठान ये स्थानादि योग के चार प्रकार हैं । उस योग से योग-निरोध रूप योग की प्राप्ति होने से क्रमशः मोक्ष योग प्राप्त हो जाता है ॥७॥

स्थानाद्ययोगिनस्तीर्थोच्छेदाद्यालम्बनादपि ।
सूत्रदाने महादोष, इत्याचार्याः प्रचक्षते ॥ ८ ॥

भावार्थ : ''तीर्थ का उच्छेद होगा'' इत्यादि आलम्बन से भी स्थान आदि योग से रहित को सूत्रदान करने में महान् दोष है, ऐसा आचार्यों का कथन है ॥८॥

नियागाष्टकम्-28

यः कर्म हुतवान् दीप्ते, ब्रह्माग्नौ ध्यानधाय्यया ।
स निश्चितेन यागेन, नियागप्रतिपत्तिमान् ॥ १ ॥

भावार्थ : जिसने प्रदीप्त ब्रह्मरूप अग्नि में ध्यान रूप वेद के मंत्रों द्वारा कर्मों का होम किया है उस मुनि ने निश्चित ही भाव यज्ञ द्वारा नियाग को प्राप्त किया है ॥१॥

पापध्वंसिनि निष्कामे, ज्ञानयज्ञे रतो भव ।
सावद्यैः कर्मयज्ञैः किं, भूतिकामनयाऽऽविलैः ? ॥ २ ॥

भावार्थ : पाप का नाश करने वाला और कामनारहित ऐसे ज्ञान यज्ञ में तू आसक्त बन । सुख की इच्छा द्वारा मलिन बने पाप सहित कर्म यज्ञों का क्या काम है ? ॥२॥

वेदोक्तत्त्वान् मनःशुद्ध्या, कर्मयज्ञोऽपि योगिनः ।
ब्रह्मयज्ञ इतीच्छन्तः, श्येनयागं त्यजन्ति किम् ? ॥ ३ ॥

भावार्थ : वेदोक्त होने से मन की शुद्धि द्वारा किया गया कर्म-यज्ञ भी ज्ञान योगी के लिये ब्रह्मयज्ञ के समान है, ऐसा मानने वाले श्येन यज्ञ का फिर क्यों त्याग करते हैं ॥३॥

ब्रह्मयज्ञः परं कर्म, गृहस्थस्याधिकारिणः ।
पूजादि वीतरागस्य, ज्ञानमेव तु योगिनः ॥ ४ ॥

भावार्थ : अधिकारी गृहस्थ को मात्र वीतराग की पूजा आदि क्रिया ब्रह्मयज्ञ है और योगी के लिये तो ज्ञान ही ब्रह्मयज्ञ है ॥४॥

भिन्नोद्देशेन विहितं, कर्म कर्मक्षयाक्षमम् ।
क्लृप्तभिन्नाधिकारं च, पुत्रेष्ट्यादिवदिष्यताम् ॥ ५ ॥

भावार्थ : भिन्न उद्देशसे शास्त्र में कहा हुआ अनुष्ठान कर्मक्षय करने में असमर्थ होता है । भिन्न अधिकार की कल्पना वाला जैसे पुत्र प्राप्ति के लिये किया जाने वाला यज्ञ आदि की तरह मानिये ॥५॥

ब्रह्मार्पणमपि ब्रह्म, यज्ञान्तर्भावसाधनम् ।
ब्रह्माग्नौ कर्मणो युक्तं, स्वकृतत्वस्मये हुते ॥ ६ ॥

भावार्थ : ब्रह्मयज्ञ में अन्तर्भाव का साधन ब्रह्म को अर्पण करना भी ब्रह्मरूप अग्नि में कर्म का और स्व कर्तृत्व के अहंकार का हवन करने पर ही युक्त होता है ॥६॥

ब्रह्मण्यर्पितसर्वस्वो, ब्रह्मदृग् ब्रह्मसाधनः ।
ब्रह्मणा जुह्वदब्रह्म, ब्रह्मणि ब्रह्मगुप्तिमान् ॥ ७ ॥

भावार्थ : जिसने ब्रह्म में सर्वस्व अर्पण किया है, ब्रह्म में ही जिसकी दृष्टि है, ब्रह्मरूप ज्ञान ही जिसका साधन

है और ब्रह्म के द्वारा ब्रह्म में जो अब्रह्म का हवन करता है, जो ब्रह्मगुप्ति वाला है ॥७॥

ब्रह्माध्ययननिष्ठावान्, परब्रह्मसमाहितः ।
ब्राह्मणो लिप्यते नाघै, र्नियाग-प्रतिपत्तिमान् ॥ ८ ॥

भावार्थ : ब्रह्म अध्ययन में जो निष्ठावान् है, परब्रह्म में समाहित है और नियाग को जिसने प्राप्त कर लिया है ऐसा ब्राह्मण (निर्ग्रन्थ) कभी पाप से लिप्त नहीं होता ॥८॥

भावपूजाष्टकम्-29

दयाम्भसा कृतस्नानः, संतोषशुभवस्त्रभृत् ।
विवेकतिलकभ्राजी, भावनापावनाशयः ॥ १ ॥

भावार्थ : दया रूपी पानी से जिसने स्नान किया है संतोषरूप उज्जवल वस्त्र धारण किये है, विवेकरूप तिलक से शोभायमान है, शुभ भावनाओं से पवित्र आशय वाला है ॥१॥

भक्तिश्रद्धानघुसृणोन्मिश्रपाटीरजद्रवैः ।
नवब्रह्माङ्गतो देवं, शुद्धमात्मानमर्चय ॥ २ ॥

भावार्थ : भक्ति और श्रद्धारूप केसर मिश्रित चंदन के द्वारा शुद्ध आत्मदेव की नव प्रकार के ब्रह्मचर्य रूप नव अंगों की तू पूजा कर ॥२॥

क्षमापुष्पस्रजं धर्म, युग्मक्षौमद्वयं तथा ।
ध्यानाभरणसारं च, तदङ्गे विनिवेशय ॥ ३ ॥

भावार्थ : उस शुद्ध आत्मदेव को क्षमारूप फूल की माला अर्पण कर, निश्चय और व्यवहार धर्म रूप दो वस्त्र तथा ध्यान रूप श्रेष्ठ अलंकार अर्पण कर ॥३॥

मदस्थानभिदात्यागैर्लिखाग्रे चाष्टमङ्गलम् ।
ज्ञानाग्नौ शुभसंकल्प, काकतुण्डं च धूपय ॥ ४ ॥

भावार्थ : उस परमात्मा के सामने आठ मद स्थानों के त्यागरूप अष्ट मंगल का आलेखन कर और ज्ञानरूप अग्नि में शुभ संकल्प रूप कृष्णागरु का धूप कर ॥४॥

प्राग्धर्मलवणोत्तारं, धर्मसन्यासवह्निना ।
कुर्वन् पूरय सामर्थ्य, राजन्नीराजनाविधिम् ॥ ५ ॥

भावार्थ : धर्मसंन्यासरूप अग्नि के द्वारा पूर्व का क्षायोपशमिक धर्म रूप लून उतारता हुआ सामर्थ्य योग रूप देदीप्यमान आरती की विधि पूर्ण कर ॥५॥

स्फुरन् मङ्गलदीपं च, स्थापयानुभवं पुरः ।
योगनृत्यपरस्तौर्य, त्रिकसंयमवान् भव ॥ ६ ॥

भावार्थ : अनुभव रूप स्फुरायमान् मंगलदीप की शुद्ध आत्मदेव के समक्ष स्थापना कर । संयम योग रूप नाट्य पूजा में तत्पर बना हुआ तू गीत नृत्य और वाद्यंत्र इन तीनों के समूह के जैसा संयम वाला बन ॥६॥

उल्लसन् मनसः सत्य, घण्टां वादयतस्तव ।
भावपूजारतस्येत्थं, करक्रोडे महोदयः ॥ ७ ॥

भावार्थ : उल्लसित मन से सत्य रूप घण्टवादन करता हुआ और भाव पूजा में लीन बना हुआ तेरा मोक्ष तेरी हथेली में ही है ॥७॥

द्रव्यपूजोचिता भेदो, पासना गृहमेधिनाम् ।
भावपूजा तु साधूनामभेदोपासनात्मिका ॥ ८ ॥

भावार्थ : गृहस्थों को भेदपूर्वक उपासनारूप द्रव्य पूजा योग्य है और अभेद उपासना रूप भावपूजा तो साधुओं को ही योग्य है ॥८॥

ध्यानाष्टकम्-30

ध्याता ध्येयं तथा ध्यानं, त्रयं यस्यै कतां गतम् ।
मुनेरनन्यचित्तस्य, तस्य दुःखं न विद्यते ॥ १ ॥

भावार्थ : ध्याता ध्येय और ध्यान इन तीनों की एकरूपता को जिसने प्राप्त कर लिया है, ऐसे एकाग्रचित्त मुनि को कोई दुःख नहीं होता ॥१॥

ध्यातान्तरात्मा ध्येयस्तु, परमात्मा प्रकीर्तितः ।
ध्यानं चैकाग्र्यसंवित्तिः, समापत्तिस्तदेकता ॥ २ ॥

भावार्थ : ध्यान करने वाला अन्तरात्मा है, ध्येय परमात्मा को कहा गया है और ध्यान एकाग्रता की बुद्धि है । इन तीनों की एकता को समापत्ति कहा जाता है ॥२॥

मणाविव प्रतिच्छाया, समापत्तिः परात्मनः ।
क्षीणवृत्तौ भवेद् ध्याना, दन्तरात्मनि निर्मले ॥ ३ ॥

भावार्थ : जिस प्रकार मणि में अन्य वस्तु का प्रतिबिम्ब दिखाई देता है, उसी प्रकार क्षीण वृत्ति वाले शुद्ध-निर्मल अन्तरात्मा में ध्यान द्वारा परमात्मा का प्रतिबिम्ब दिखाई देता है, इसी को समापत्ति कहते हैं ॥३॥

आपत्तिश्च ततः पुण्य, तीर्थकृत्कर्मबन्धतः ।
तद्भावाभिमुखत्वेन, संपत्तिश्च क्रमाद् भवेत् ॥ ४ ॥

भावार्थ : उस समापत्ति से पुण्यप्रकृति रूप तीर्थंकर नामकर्म के बंधस्वरूप फल की प्राप्ति होती है और तीर्थंकर नामकर्म की अभिमुखता से क्रमशः आत्मिक संपत्ति रूप फल होता है ॥४॥

इत्थं ध्यानफलाद्युक्तं, विंशतिस्थानकाद्यपि ।
कष्टमात्रं त्वभव्यानामपि नो दुर्लभं भवे ॥ ५ ॥

भावार्थ : इसप्रकार के ध्यानफल से ही वीशस्थानक आदि तप भी योग्य हैं। कष्ट मात्र रूप तप तो इस संसार में अभव्यों को भी दुर्लभ नहीं है ॥५॥

जितेन्द्रियस्य धीरस्य, प्रशान्तस्य स्थिरात्मनः ।
सुखासनस्य नासाग्र, न्यस्तनेत्रस्य योगिनः ॥ ६ ॥

भावार्थ : जो जितेन्द्रिय है, धैर्यशाली है, प्रशान्त है, जिसकी आत्मा स्थिर है, सुखासन पर स्थित है, जिसने

नासिका के अग्रभाग पर अपनी दृष्टि का स्थापन किया है, जो योगसहित है ॥६॥

रुद्धबाह्यमनोवृत्तेर्धारणाधारया रयात् ।
प्रसन्नस्याऽप्रमत्तस्य, चिदानन्दसुधालिहः ॥ ७ ॥

भावार्थ : ध्येय में मन की स्थिरतारूप धारण की सतत् धारा के वेग से जिसने बाह्य इन्द्रियों का अनुसरण करने वाली मन की वृत्ति को रोका है, जो प्रसन्न मन वाला है, प्रमादरहित है, ज्ञानानन्द रूप अमृत का आस्वादन करने वाला है ॥७॥

साम्राज्यमप्रतिद्वन्द्वमन्तरेव वितन्वतः ।
ध्यानिनो नोपमा लोके, सदेवमनुजेऽपि हि ॥ ८ ॥

भावार्थ : अपनी अन्तरात्मा में ही विपक्षरहित अपने साम्राज्य का विस्तार करता हुआ ऐसे ध्यानवंत साधकों की देवलोक और मनुष्यलोक में भी वास्तव में कोई उपमा नहीं है ॥८॥

तपोष्टकम्-31

ज्ञानमेव बुधाः प्राहुः, कर्मणां तापनात्तपः ।
तदाभ्यन्तरमेवेष्टं, बाह्यं तदुपबृंहकम् ॥ १ ॥

भावार्थ : कर्मों को तपाने वाला होने से तप यह ज्ञान ही है, ऐसा ज्ञानियों ने कहा है । (तप के दो भेदों में से)

अन्तरंग तप ही इष्ट है, बाह्य तप तो उसका सहायक अर्थात् उसकी वृद्धि करने वाला है ॥१॥

आनुस्रोतसिकी वृत्तिर्बालानां सुखशीलता ।
प्रातिस्रोतसिकी वृत्तिर्ज्ञानिनां परमं तपः ॥ २ ॥

भावार्थ : सुखशीलता भरी, संसार के प्रवाह का अनुसरण करने वाली वृत्ति अज्ञानियों की होती है और संसार के प्रवाह के विपरीत अर्थात् सम्मुख ऐसा परमतप ज्ञानियों की वृत्ति है ॥२॥

धनार्थिनां यथा नास्ति, शीततापादि दुःसहम् ।
तथा भवविरक्तानां, तत्त्वज्ञानार्थिनामपि ॥ ३ ॥

भावार्थ : जिसप्रकार धन के अभिलाषी के लिये सर्दी गर्मी आदि के कष्ट दुस्सह नहीं होते, उसी प्रकार संसार से विरक्त तत्त्व ज्ञान के अभिलाषी (साधको) के लिये भी कोई कष्ट दुस्सह नहीं होता ॥३॥

सदुपायप्रवृत्तानामुपेयमधुरत्वतः ।
ज्ञानिनां नित्यमानन्द, वृद्धिरेव तपस्विनाम् ॥ ४ ॥

भावार्थ : सद् उपाय में प्रवृत्त ज्ञान ऐसे तपस्वियों को मोक्ष रूप साध्य के मिठास से हमेशा आनंद की वृद्धि ही होती है ॥४॥

इत्थं च दुःखरूपत्वात्, तपो व्यर्थमितीच्छताम् ।
बौद्धानां निहता बुद्धिर्बौद्धानन्दाऽपरिक्षयात् ॥ ५ ॥

भावार्थ : ''इसप्रकार दुःखरूप होने से तप निष्फल है'' ऐसी मान्यता वाले बौद्धों की बुद्धि कुंठित बनी हुई है,

क्योंकि बुद्धिजनित अन्तरंग आनंद की धारा कभी खण्डित नहीं होती । (अर्थात् तप में भी आत्मिक आनंद की धारा अखण्डित होती है) ॥५॥

यत्र ब्रह्म जिनार्चा च, कषायाणां तथा हतिः ।
सानुबन्धा जिनाज्ञा च, तत्तपः शुद्धमिष्यते ॥ ६ ॥

भावार्थ : जिसमें ब्रह्मचर्य है, जिनपूजा है, कषायों का क्षय है तथा अनुबंधसहित जिनाज्ञा प्रवर्त्तमान है, वह तप शुद्ध कहलाता है ॥६॥

तदेव हि तपः कार्यं, दुर्ध्यानं यत्र नो भवेत् ।
येन योगा न हीयन्ते, क्षीयन्ते नेन्द्रियाणि च ॥ ७ ॥

भावार्थ : निश्चय से वही तप करने योग्य है, जिसमें दुर्ध्यान नहीं होता, जिसमें मन वचन काया के योगों की हानि नहीं होती और इन्द्रियों का क्षय नहीं होता ॥७॥

मूलोत्तरगुणश्रेणि, प्राज्यसाम्राज्यसिद्धये ।
बाह्यमाभ्यन्तरं चेत्थं, तपः कुर्यान्महामुनिः ॥ ८ ॥

भावार्थ : मूलगुण और उत्तरगुण की श्रेणिरूप विशाल साम्राज्य की सिद्धि के लिये महामुनि बाह्य और आभ्यन्तर तप करें ॥८॥

सर्वनयाश्रयाष्टकम्-32

धावन्तोऽपि नयाः सर्वे, स्युर्भावे कृतविश्रमाः ।
चारित्रगुणलीनः स्यादिति सर्वनयाश्रितः ॥ १ ॥

भावार्थ : अपनी-अपनी मान्यता को सिद्ध करने के लिए दौड़ते हुए भी सभी नय वस्तु के उस-उस स्वभाव में स्थिर होते हैं । चारित्रगुण में लीन बना हुआ साधु सभी नयों का आश्रय करने वाला होता है ॥१॥

पृथग्नया मिथः पक्ष, प्रतिपक्षकदर्थिताः ।
समवृत्तिसुखास्वादी, ज्ञानी सर्वनयाश्रितः ॥ २ ॥

भावार्थ : अलग-अलग नय परस्पर वाद प्रतिवाद से विडंबित हैं । समभाव के सुख का अनुभव करने वाले महामुनि सर्व नयों के आश्रित होते हैं ॥२॥

नाप्रमाणं प्रमाणं वा, सर्वमप्यविशेषितम् ।
विशेषितं प्रमाणं स्यादिति सर्वनयज्ञता ॥ ३ ॥

भावार्थ : सभी वचन विशेष रहित हो तो एकान्त से वे न अप्रमाण हैं, न प्रमाण ही हैं, विशेष सहित ही प्रमाण हैं, इस प्रकार सभी नयों का ज्ञान होता है ॥३॥

लोके सर्वनयज्ञानां, ताटस्थ्यं वाप्यनुग्रहः ।
स्यात् पृथङ्नयमूढानां, स्मयार्तिर्वातिविग्रहः ॥ ४ ॥

भावार्थ : लोक में सभी नयों के जानकार को माध्यस्थ भाव अथवा उपकार बुद्धि होती है । अलग-अलग नयों में मोहग्रस्त (आत्मा) को अभिमान की पीड़ा अथवा अत्यंन्त क्लेश होता है ॥४॥

श्रेय:सर्व नयज्ञानां, विपुलं धर्मवादतः ।
शुष्कवादाद्विवादाच्च, परेषां तु विपर्ययः ॥ ५ ॥

भावार्थ : सभी नयों को जानने वालों का धर्मवाद से बहुत कल्याण होता है । अन्य एकान्त दृष्टि वालों का तो शुष्कवाद और विवाद से अकल्याण ही होता है ॥५॥

प्रकाशितं जनानां यैर्मतं सर्वनयाश्रितम् ।
चित्ते परिणतं चेदं, येषां तेभ्यो नमोनमः ॥ ६ ॥

भावार्थ : जिन महापुरुषों ने सभी नयों से आश्रित प्रवचन लोगों के लिए प्रकाशित किया है और जिनके चित्त में (वह प्रवचन) परिणत हो गया है उनको वारंवार नमस्कार हो ॥६॥

निश्चये व्यवहारे च, त्यक्त्वा ज्ञाने च कर्मणि ।
एक पाक्षिकविश्लेष, मारूढाः शुद्धभूमिकाम् ॥ ७ ॥

भावार्थ : निश्चय नय में, व्यवहार नय में, ज्ञान में और क्रिया नय में एक पक्ष में स्थित भ्रांति के स्थान को छोड़कर शुद्ध भूमि का पर आरूढ़ और ॥७॥

अमूढलक्ष्याः सर्वत्र, पक्षपातविवर्जिताः ।
जयन्ति परमानन्दमयाः सर्वनयाश्रयाः ॥ ८ ॥

भावार्थ : जो लक्ष्य से विचलित नहीं है, सर्वत्र पक्षपात से रहित है, परमानन्द रूप सभी नयों के आश्रय भूत ऐसे ज्ञानी जयवन्त रहते हैं ॥८॥

● ● ●

प्रशस्तिस्वरूपकीर्तनम्

पूर्णो मग्नः स्थिरोऽमोहो, ज्ञानी शान्ते जितेन्द्रियः ।
त्यागी क्रियापरस्तृप्तो, निर्लेपो निःस्पृहो मुनिः ॥१॥

विद्याविवेकसम्पन्नो, मध्यस्थो भयवर्जितः ।
अनात्मशंसकस्तत्त्वदृष्टिः सर्वसमृद्धिमान् ॥२॥

ध्याता कर्मविपाकानामुद्विग्नो भववारिधेः ।
लोकसंज्ञाविनिर्मुक्तः, शास्त्रदृग् निष्परिग्रहः ॥३॥

शुद्धानुभववान् योगी, नियागप्रतिपत्तिमान् ।
भावार्चाध्यानतपसां भूमिः सर्वनयाश्रितः ॥४॥

स्पष्टं निष्टंकितं तत्त्वमष्टकैः प्रतिपन्नवान् ।
मुनिर्महोदयज्ञानसारं, समधिगच्छति ॥५॥

निर्विकारं निराबाधं, ज्ञानसारमुपेयुषाम् ।
विनिवृत्तपराशानां, मोक्षोऽत्रैव महात्मनाम् ॥६॥

चित्तमार्द्रीकृतं ज्ञानसारसारस्वतोर्मिभिः ।
नाप्नोति तीव्रमोहाऽग्निप्लोषशोषकदर्थनाम् ॥७॥

अचिन्त्या काऽपि साधूनां, ज्ञानसारगरिष्ठता ।
गतिर्ययोर्ध्वमेव स्यादधःपातः कदाऽपि न ॥८॥

क्लेशक्षयो हि मण्डूकचूर्णतुल्यः क्रियाकृतः ।
दग्धतच्चूर्णसदृशो, ज्ञानसारकृतः पुनः ॥९॥

ज्ञानपूतां परेऽप्याहुः, क्रियां हेमघटोपमाम् ।
युक्तं तदपि तद्भावं, न यद् भग्नाऽपि सोज्झति ॥१०॥

क्रियाशून्यं च यद्ज्ञानं, ज्ञानशून्या च या क्रिया ।
अनयोरन्तरं ज्ञेयं भानुखद्योतयोरिव ॥११॥

चारित्रं विरतिः पूर्णा, ज्ञानस्योत्कर्ष एव हि ।
ज्ञानाद्वैतनये दृष्टिर्देया तद्योगसिद्धये ॥१२॥

रचनाक्षेत्रकालादि प्रशस्तिः

सिद्धिं सिद्धपुरे पुरन्दरपुरस्पर्धावहे लब्धवां-
श्चिद्दीपोऽयमुदारसारमहसा दीपोत्सवे पर्वणि ।
एतद्भावनभावपावनमनश्चञ्चच्चमत्कारिणां,
तैस्तैर्दीपशतैःसुनिश्चयमतैर्नित्योऽस्तु दीपोत्सवः ॥१३॥

केषांचिद्विषयज्वरातुरमहो चित्तं परेषां विषाऽ-
ऽवेगोदर्ककुतर्कमूर्च्छितमथान्येषां कुवैराग्यतः ।
लग्नालर्कमबोधकूपपतितं चास्ते परेषामपि,
स्तोकानां तु विकारभाररहितं तज्ज्ञानसाराश्रितम् ॥१४॥

जातोद्रेकविवेकतोरणततौ धावल्यमातन्वते
हृद्गेहे समयोचिते प्रसरति स्फीतेच गीतध्वनौ ।
पूर्णानन्दघनस्य किं सहजया तद्भाग्यभङ्ग्याऽभवन्-
नैतद्ग्रन्थमिषात् करग्रहमहश्चित्रश्चरित्रश्रियः ॥१५॥

भावस्तोमपवित्रगोमयरसैर्लिप्तैव भूः सर्वतः-
संसिक्ता समतोदकैरथ पथि न्यस्ता विवेकस्त्रजः ।
अध्यात्मामृतपूर्णकामकलशश्चक्रेऽत्र शास्त्रे पुरे-
पूर्णानन्दघने पुरं प्रविशति स्वीयं कृतं मङ्गलम् ॥१६॥

स्वगुर्वादिप्रशस्तिः

गच्छे श्रीविजयादिदेवसुगुरोः स्वच्छे, गुणानां गणैः,
प्रौढिं प्रौढिमधाम्नि जीतविजयप्राज्ञाः परामैयरुः ।
तत्सातीर्थ्यभृतां नयादिविजयप्राज्ञोत्तमानां शिशोः,
श्रीमन्न्यायविशारदस्य कृतिनामेषा कृतिः प्रीतये ॥१७॥

• • •

॥ ज्ञानसार समाप्त ॥

ज्ञान गर्भित-मांगलिक

'ॐ'कार बिन्दुसंयुक्तं, नित्यं ध्यायन्ति योगिनः ।
कामदं मोक्षदं चैव, ॐकाराय नमोनमः ॥

भावार्थ : योगीजन हमेशा ॐकार-बिन्दु संयुक्त का ध्यान करते है । जो कामितपूरण है एवं मोक्षदायक है, ऐसे ॐकार को हमारा पुनः पुनः नमस्कार ॥

० ० ०

अज्ञानतिमिरान्धानां, ज्ञानाञ्जनशलाकया ।
नेत्रमुन्मीलितं येन, तस्मै श्रीगुरवे नमः ॥

भावार्थ : अज्ञान के अन्धकार से अंध जीवों के नेत्र को जिन्होंने ज्ञान-अञ्जन की शलाका से खोल दिये, ऐसे श्रीगुरु को नमस्कार ॥

० ० ०

पद्दयादृष्टिमात्रेण, दोषा यान्ति दिगन्तरम् ।
प्रकाशन्ते गुणाः सर्वे, तस्मै श्री गुरवे नमः ॥

भावार्थ : जिनकी दयादृष्टि से ही सभी दोष दूर हो जाते है एवं सभी गुण प्रकट हो जाते है, ऐसे श्रीगुरु को नमस्कार ॥

● ● ●

नमो दुर्वाररागादि-वैरिवारनिवारिणे ।
अर्हते योगिनाथाय, महावीराय तायिने ॥

भावार्थ : रागादि आंतर शत्रुगण, जिनका निवारण करना मुश्किल है, उन्हें जितनेवाले योगीनाथ अर्हत् त्राता ऐसे प्रभु महावीरस्वामी को नमस्कार ॥

– **योगशास्त्र**

० ० ०

पन्नगे च सुरेन्द्रे च, कौशिके पादसंस्पृशि ।
निर्विशेषमनस्काय, श्रीवीरस्वामिने नम ॥

भावार्थ : सर्प हो या सुरेन्द्र हो, कोई भी चरण स्पर्श करे तो जिनके मनमें कोइ भेदभाव नहीं उठता, ऐसे श्रीवीरस्वामी को नमस्कार ॥

– **योगशास्त्र**

० ० ०

मङ्गलं भगवान् वीरो, मङ्गलं गौतमप्रभुः ।
मङ्गलं स्थूलभद्राद्या, जैन धर्मोऽस्तु मङ्गलम् ॥

भावार्थ : प्रभु महावीरस्वामी मंगल हो, प्रभु गौतमस्वामी मंगल हो, स्थूलभद्रस्वामी आदि पूर्वमहर्षि मंगल हो एवं जैन धर्म मंगल हो ॥

० ० ०

अहो ! श्रुतम् स्वाध्याय संग्रह में प्रकाशित होनेवाले हिन्दी ग्रंथो का विवरण

(१) जीवविचार - नवतत्त्व
(२) दंडक - लघु संग्रहणी
(३) भाष्यत्रयम् - चैत्यवंदन / गुरुवंदन / पच्चक्खाण भाष्य
(४) कर्मग्रंथ १-२-३
(५) ज्ञानसार
(६) उपदेशमाला
(७) अध्यात्मसार
(८) शांतसुधारस
(९) प्रशमरति
(१०) वैराग्यशतक - इन्द्रिय पराजय शतक
(११) अध्यात्मकल्पद्रुम
(१२) अष्टक प्रकरण
(१३) तत्त्वार्थसूत्र
(१४) वीतरागस्तोत्र
(१५) बृहद्संग्रहणी
(१६) लघुक्षेत्रसमास

● ● ●

श्री आशापूरण पार्श्वनाथ जैन ज्ञानभंडार परिचय

(1) शा. सरेमल जवेरचंदजी बेडावाला परिवार द्वारा स्वद्रव्य से संवत् 2063 में निर्मित...

(2) गुरुभगवंतो के अभ्यास के लिये 2500 प्रताकार ग्रंथ व 21000 से ज्यादा पुस्तको के संग्रह मे से 33000 से ज्यादा पुस्तके इस्यु की है...

(3) श्रुतरक्षा के लिये 45 हस्तप्रत भंडारो को डिजिटाईजेशन के द्वारा सुरक्षित किया है और उस में संग्रहित 80000 हस्तप्रतो में से 1800 से ज्यादा हस्तप्रतो की झेरोक्ष विद्वान गुरुभगवंतो को संशोधन संपादन के लिये भेजी है...

(4) जीर्ण और प्रायः अप्राप्य 222 मुद्रित ग्रंथो को डिजिटाईजेशन करके मर्यादित नकले पुनः प्रकाशित करके ज्ञानभंडारो को समृद्ध बनाया है...

(5) अहो ! श्रुतज्ञानम् चातुर्मासिक पत्रिका के 46 अंक श्रुतभक्ति के लिये स्वद्रव्य से प्रकाशित किये है...

(6) ई-लायब्रेरी के अंतर्गत 9000 से ज्यादा पुस्तको का डिजिटल संग्रह PDF उपलब्ध है, जिस में से गुरुभगवंतो की जरुरियात के मुताबिक मुद्रित प्रिन्ट नकल भेजते है...

(7) हर साल पूज्य साध्वीजी म.सा. के लिये प्राचीन लिपि (लिप्यंतरण) शीखने का आयोजन...

(8) बच्चों के लिये अंग्रेजी में सचित्र कथाओं को प्रकाशित करने का आयोजन...

(9) अहो ! श्रुतम् ई परिपत्र के द्वारा अद्यावधि अप्रकाशित आठ कृतिओं को प्रकाशित की है...

(10) नेशनल बुक फेर में जैन साहित्य की विशिष्ट प्रस्तुति एवं प्रसार ।

(11) पंचम समिति के विवेकपूर्ण पालन के लिये उचित ज्ञान का प्रसार एवं प्रायोगिक उपाय का आयोजन ।

(12) चतुर्विध संघ उपयोगी प्रियम् के 60 पुस्तको का डिजिटल प्रिन्ट द्वारा प्रकाशन ।

● ● ●